विज्ञान भवन नई दिल्ली में आयोजित विश्व योग सम्मेलन में
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
(हाथ में छड़ी लिए हुए)

इनके बाँये-दाँये बैठे हैं योगी श्री देवमूर्ति जी
तथा ब्रह्मचारी श्री हरिभक्त चैतन्य।

सिद्ध योग

वर्ष ८
अङ्क १

अप्रैल
१९७५

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्भुवि विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तस्मात्स्वर्थान् बहुविलसन् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

सुखमस्ति विरक्तस्य मुनिरेकान्त जीवितः

असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः ।
सुत कस्य धनं कस्य स्नेहवाञ्ज्वलतेऽनिशम् ॥
न चेन्द्रस्य सुखं किंचिन्न सुखं चक्रवर्तिनः ।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनिरेकान्तजीविनः ॥

अर्थात्

यह संसार असार है । यह अत्यन्त दुःख रूप और मोह में डालने वाला है । पुत्र किसका ? धन किसका ? स्नेहवान् पुरुष रात दिन दीपक के समान जलता रहता है । इन्द्र को और चक्रवर्ती राजा को कुछ भी सुख नहीं है, सुख है तो केवल एकान्तजीवी मुनि को ।

—श्रीमद्भागवत

।। श्री रामलाल प्रभवे नमः ।।

हमारा विशेष लेख—

सार्वभौम विद्या योग

[योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज]

योग अध्यात्म विद्या है, मानव मात्र इसका अधिकारी है। यह एक दूसरी बात है कि कोई व्यक्ति योग की परिभाषा न समझकर इसको अपने मन में साम्प्रदायिकता का स्थान देता रहे। साम्प्रदायिक लोग मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना के नियमानुसार अपने मनोनीत नियमों का संकलन करके अपने सम्प्रदायों को चलाते हैं। उनके सभी नियम सभी को प्रिय नहीं होते। हमारी योग विद्या एक इस प्रकार की योग विद्या है जिसमें ज्ञान और विज्ञान के स्वरूपों को समझाकर मनुष्यों को पूर्णता की ओर ले जाया गया है। भगवान पतंजलि देव ने 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' कह करके अपने पातंजलि योग-दर्शन में योग की परिभाषा बताई है। चित्त-वृत्ति निरोध का अर्थ है—चित्त की वृत्तियों का निरुद्ध रोध। अर्थात् सीमा तक पहुँची हुई चित्त वृत्तियों का बिलकुल बिलकुल रुक जाना। चित्त वृत्तियें त्रिगुणात्मिका होती है। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण ये तीनों प्रकृति सम्भव गुण हैं। ये तीनों गुण ही योगी के चित्त को मलिन रक्खा करते हैं। जिस समय चित्त सतोगुण प्रधान रहता है उस समय रजोगुण और तमोगुण उसके अनुगामी रहा करते हैं। ऐसा सतोगुण प्रधान चित्त आत्म स्वरूप अध्यात्म ऐश्वर्य में प्रेम करने वाला होता है और इसके विपरीत रज और तम प्रधान चित्त अवैराग्य, अनैश्वर्य एवं अन्धकार आलस्य की ओर बढ़ाने वाला होता है। योगी अपने चित्त की त्रिगुण प्रवृत्तियों को हटाकर चित्त वृत्तियों का निरोध करता है, एवं अपने आप को कैवली भाव की ओर ले जाता है। कैवल्य लाभ करना ही योगियों का परमलक्ष्य है। यह लक्ष्य भूमंडल पर जन्म लेने वाले हर मानव का हो सकता है। इसका किसी के मजहब या सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं। आवश्यकता तो इसी बात की है कि साधक

मननशील मनुष्य हो। यह विचारने की आवश्यकता नहीं कि उस का जन्म कहाँ हुआ है। वह किन मन्तव्यों के मानने वाला है? भले ही वह यहूदी हो, पारसी हो, हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हो आवश्यकता इस बात की है कि वह मननशील मानव हो। मननशील मानव योग का अधिकारी है। यदि उसके मन में योग की सच्ची जिज्ञासा पैदा हो गई है तो वह योगोपदेष्टा योग्य सच्चे आचार्य गुरु की शरण लेकर इस विद्या में प्रवेश कर सकता है। तथा प्रवेश कर जाने के बाद हरदार अभ्यास में लगे रहने वाला व्यक्ति योग की पराकाष्ठा को अवश्य ही पा जाता है। अखिलात्मा योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के छठे अध्याय में युक्त योगी का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा,
कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी,
सम लोष्टाश्मकांचनः॥

अर्थात् युक्त योगी कहलाता हो वह है जो ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा होकर विकार रहित स्थिति को पहुंच गया हो। जिसकी दृष्टि में लोहा सोना मिट्टी-पत्थर समान रूप से ही दिखाई देते हों किन्तु यह स्थिति प्राप्त उसी को हो सकती है जिसने योग का क्रमशः अध्ययन किया हो। योग की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है। मन सब शक्तियों का भंडार है। इन्द्रियां उसको अपने-अपने विभिन्न विषयों में प्रतिक्षण प्रेरित करती रहती है अतः वह इन्द्रियों के विषय रूप रस गंध आदि में भटकता रहता है। योगी का सबसे पहला लक्ष्य है कि रूप रस, गंधादि में भटकने वाले अपने मन को प्रत्याहार के द्वारा लौटा-लौटा कर धारणा के द्वारा एकाग्र करे। किसी एक लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना ही धारणा कहलाती है। यह योगी की पहली वर्णाक्षरी, है जिसका अध्ययन करने वाला साधक धारणा ध्यान समाधि का अध्ययन करता हुआ संयम तक पहुंच जाता है। एवं संयमित चित्त वाला योगी ही ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा हो सकता है। ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा के अर्थ को हर व्यक्ति सम्भवतः नहीं समझता होगा। अतः थोड़ा सा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा का अर्थ है प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर उस पर पूर्णाधिकार प्राप्त करना। जैसे जल में न डूबना, अग्नि से न जलाया जाना, पाताल प्रवेश करना, आकाश गमन करना। ये सभी कार्य प्रकृति के नियमों को समझ कर उस पर विजय प्राप्त कर लेने की ही बात है। जो साधक अपनी साधना के बल से प्रकृति के इस प्रकार के सभी नियमों को समझ कर उन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है वह ज्ञान तृप्तात्मा कहलाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने संयम को उत्कृष्ट बनाकर आत्मसाक्षात्कार कर लेता है एवं प्रातिभश्रवण वेदना

आदर्श आदि आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है वह विज्ञान कृतात्मा कहलाता है। ज्यों-ज्यों साधक आत्म साक्षात्कार के निकट पहुंचता है त्यों-त्यों उसके मन में अपने आप ही प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाया करता है। जिस प्रकार से प्रातः कालीन उषा काल में हर व्यक्ति को धुंधले-धुंधले प्रकाश में सब मकान आदि दिखलाई देने लगते हैं इसी प्रकार से योगी की बुद्धि में सभी सूक्ष्म भाव शुद्ध सत्य के रूप में आभासित होने लग जाते हैं। यही उसका प्रातिभ ज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान के साथ-साथ दूर-दूर की बातें सुनना, दूर दूर के देशान्तरों को देखना, दूर-दूर की वस्तुओं का स्पर्श करना आदि-आदि शक्तियां भी योगी के अन्दर स्वाभाविक रूप से उदित हो जाती हैं। इन सब शक्तियों के उदय हो जाने के बाद योगी का मन अपने आप ही आत्मलीन रहने लगता है। वह कूटस्थ हो जाता है। उसकी बुद्धि वृत्ति आत्माकार बनी रहने लगती है। अतः किसी भी विकार का उसके मन में उदय नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति में स्थित रहने वाले योगी की दृष्टि में लोहा-सोना पत्थर सब समभाव से रहने लगते हैं। वह वासना तृष्णा के जाल से बिलकुल-बिलकुल दूर हो जाता है। प्राणि मात्र को अपना आत्म समझता है, एवं अपने आप को भी प्राणिमात्र के अन्दर आत्मत्वेन देखता है। यही उसकी पराकाष्ठा को प्राप्त हुई योग स्थिति है। उसकी दृष्टि में वर्ण भेद और जाति भेद सब मिट जाते हैं। अतः योग विद्या ही एक इस प्रकार की विद्या है कि जिसको सार्वभौम विद्या कहा जा सकता है। क्योंकि पृथ्वी पर जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपने-अपने अधिकार भेद से उसके अधिकारी हैं। हमारे पूर्वज महापुरुषों ने अधिकार भेद को अवश्य माना है। अधिकार भेद का अर्थ किसी जाति पांति से सम्बन्ध नहीं रखता प्रत्युत योग्यता से सम्बन्ध रखता है। जैसे पहली कक्षा में पढ़ने वाला विद्यार्थी उसे उत्तीर्ण करके ही दूसरी कक्षा का अधिकारी बनता है। न कि एम. ए. आचार्य आदि का। हां शनैः शनैः पढ़ता-पढ़ता पहली दूसरी-तीसरी आदि कक्षाओं को क्रमशः उत्तीर्ण करता हुआ शनैः शनैः वह एम.ए. व आचार्य पद तक पहुंच ही जावेगा और कुछ समय के बाद क्रमशः अध्ययन करता हुआ वह उच्च कोटि का विद्वान कहलाने लगेगा। इसी प्रकार से योग विद्या का विद्यार्थी भी शनैः शनैः क्रमशः अध्ययन करता हुआ अपने परम लक्ष्य तक अवश्य ही पहुंच जावेगा। किन्तु यह देखना आवश्यक होगा कि कौन व्यक्ति किस भूमिका का है। हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग एवं लययोग किस रास्ते पर चलने से किसका जल्दी से जल्दी ऊंचा उत्थान हो सकता है, इस बात को उसके शिक्षक समझेंगे कि वह अपने छात्र को जिस मार्ग से चलाना चाहेंगे चलायेंगे, एवं उसको बढ़ायेंगे। यह विद्या सभी को सामान्य रूप से प्राप्त करने योग्य है। योग विद्या ही एक इस प्रकार की विद्या है जिसको जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है। इसको पाकर ही मनुष्य कृतकृत्य हो जाया करता है। यह विद्या हमारे पूर्वजों की अमर देन है।

निद्रा समाधि स्थिति

[आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा]

एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत) एम. एड.

[आचार्य चन्द्रहास शर्मा 'सिद्धयोग' के विशिष्ट श्रेणी के मनीषी लेखकों में से हैं। योगाङ्गों पर प्रकाश डालने वाले आपके विचारपूर्ण लेख प्रायः 'सिद्धयोग' में प्रकाशित होते रहते हैं। प्रस्तुत लेख 'निद्रा समाधि स्थिति' भी आपका ऐसा ही लेख है जिससे योग मार्ग के साधक निद्रा और समाधि स्थिति के भेद-ज्ञान को अधिक स्पष्टता से समझ सकेंगे। सं० सं०]

स्वस्थ व्यक्ति में तीन लक्षण पाये जाते हैं। उचित परिमाण में आहार ग्रहण कर वह उसे पचा लेता है। दूसरे उसे कार्य करने में आनन्द और उत्साह रहता है तथा तीसरे वह थकने के बाद लेटते ही निद्रा देवी की गोदी में चला जाता है और सोकर प्रसन्न मन उठता है। इन तीनों बातों में से एक भी यदि न्यूनाधिक हो जाय तो शरीर और मन का संतुलन बिगड़ जाता है, जिससे साधक न लौकिक अभ्युदय के कार्य कर पाता है और न साधन भजन में ही मन लगा पाता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता में संतुलित आहार-विहार, निद्रा एवं स्वप्न तथा श्रम का उपदेश दिया है। संतुलित जीवन यापन करने वाला साधक ही योग में शीघ्र प्रगति करता है।

युक्ताहार विहारस्य,
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःखहा॥

समय पर सोना और समय का जागना तथा सामर्थ्यानुसार शारीरिक कार्य करना एवं शरीर की आवश्यकतानुसार सात्विक भोजन करते हुए जो योगाभ्यास करता है, उसका योग दुःखों को नष्ट करने वाला होता है। गीता के श्लोक में 'युक्त' शब्द विचारणीय है। समाहित अवस्था 'युक्त' अवस्था कही जाती है। जब दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के विषयों से मन में वैराग्य और वितृष्णा भाव पुष्ट हो जाता है और आत्म रति में आनन्दित रहने का अभ्यासी हो जाता है उस अवस्था को ही 'युक्त' अवस्था कहते हैं। योगेश्वर श्री कृष्ण ने छठे अध्याय के १८ वें श्लोक में युक्त का अर्थ समझाते हुए कहा है —

यदा विनियतं चित्त,
आत्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो,
युक्त इत्युच्यते तदा ॥

अर्थात् जब अपने वश में किया हुआ चित्त केवल आत्मा में स्थित हो जाता है, तब वह सब कामनाओं से निस्पृह हो जाता है। जब उसे कोई आकांक्षा नहीं रहती तब उसे युक्त कहा जाता है। चित्त को समाहित करने में आहार निद्रा तथा जप, तप, स्वाध्याय एवं ध्यान आदि कर्मों का बहुत बड़ा हाथ है। मनमाने ढंग से उपर्युक्त कर्म करने वालों को योग सिद्ध नहीं होता प्रत्युत दुःख दूर करने के स्थान पर योग-साधना अनेक रोगों का कारण बन जाती है। अतः योगाभ्यासी को अपनी दिन-चर्या के विषय में बहुत हिसाब-किताब रखना चाहिए। सभी क्रियाएँ इष्ट को समर्पित कर समर्पण भाव से तथा नित्य नियमित रूप से एवं बेगार टालते हुए नहीं अपितु बड़े आदर के साथ करनी चाहिए तभी योग में अभीष्ट लाभ प्राप्त होगा। भगवान श्रीकृष्ण साधक को सावधान करते हुए कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति,
न चैकान्त मनश्नतः।
न चाति स्वप्न शीलस्य,
जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

अर्थात् जो बहुत खाता है या जो बिल्कुल नहीं खाता तथा जो अत्यधिक सोता है या जो बिल्कुल भी नहीं सोता उसे योग सिद्ध नहीं होता। साधनावस्था में संतुलित आहार-विहार की आवश्यकता है। सिद्धावस्था की बात ही भिन्न है। उस अवस्था में खाते हुए भी नहीं खाता। सोते हुए भी नहीं सोता क्योंकि वृत्ति निर्वाणोन्मुखी हो जाती है जिससे रजोगुण और तमोगुणों का कार्य समाप्त हो जाता है। रजो-गुण में प्रकाश और आनन्द की स्थिति ही होती है। परन्तु जो क्लिष्ट वृत्तियों में रहता है उसे नियम पालन करने में ही लाभ हो सकता है।

नींद क्या है ?

नींद क्या है इसे उन लोगों से पूछिए जो नींद की गोलियां खाकर भी मखमली गद्दों पर रात भर करवटें बदलते रहते हैं और सुबह टूटे बदन और विकल मन उठते हैं। कुछ लोग तो नींद के लिए अपना सर्वस्व देना चाहते हैं। रोगी को यदि नींद आजाय तो कष्ट आधा रह जाता है। नींद के लिए इतने बेचैन रहने वाले लोग एक ओर हैं तो दूसरे ऐसे भी लोग हैं जिन्हें दिन भर की महनत के बाद लेटते ही ऐसी गाढ़ी निद्रा आती है कि वे घोड़े बेचकर सो जाते हैं और सुबह प्रफुल्ल मन उठते हैं। ऐसी नींद जीवनी शक्ति में वृद्धि करती है ? नींद के बारे में जो लोग अधिक सोचा करते हैं उन्हें प्रायः अनिद्रा रोग हो जाता है। जैसे

क्रोध का विश्लेषण करने पर क्रोध चला जाता है वैसे ही नींद के बारे में सोचने पर नींद नहीं आती। शरीर शास्त्रियों ने नींद को शरीर की थकान को मिटाने का विश्रामदायी समय माना है जिसमें शरीर के साथ मन का संयोग नष्ट हो जाता है। जब तक शरीर की सुध-बुध रहती है तब तक वह नींद नहीं तन्द्रावस्था कहलाती है उससे शरीर का भारीपन और मन का बोझ दूर नहीं होता। मनोवैज्ञानिकों ने नींद को शारीरिक और मानसिक क्रियाओं की पठार अवस्था माना है जिसमें शरीर आगे काम करने से मनाकर देता है और मन भी आगे अपना कार्य नहीं करना चाहता।

योग मत–

भगवान पतञ्जलिदेव ने योग-दर्शन में निद्रा को चित्त की एक वृत्ति माना है। जो सतोगुण अर्थात् सुषुप्ति अवस्था युक्त होती है तो समाधिस्थिति की तरह सुखदायी व अक्लिष्ट होती है। यदि वह तमोबहुल होती है तो क्लिष्ट वृत्ति होती है। असंप्रज्ञात योग के साधक को प्रमाण, विपर्य:, स्मृति, विकल्प की तरह निद्रा वृत्ति का भी पूर्ण निरोध करना आवश्यक है। क्योंकि ये वृत्तियां ही धर्म-अधर्म तथा गुणों के प्रसव की भूमि तैयार करती हैं। निद्रा का लक्षण करते हुए भगवान पतंजलि कहते हैं—

अभाव प्रत्ययआलम्बना वृत्तिर्निद्रा।

अर्थात् निद्रा में केवल अभाव की प्रतीति होती है। जहाँ जागृत और स्वप्न अवस्था की सभी वृत्तियों का अभाव हो वह वृत्ति निद्रा है। जब तमोगुण, सतोगुण और रजोगुण को दबाकर अज्ञान का आवरण डाल देता है उस वृत्ति को निद्रा कहते है। उस समय इन्द्रियाँ अपना कार्य अज्ञान के आवरण में करती हैं। चित्त का बाहरी विषय से साक्षात् सन्निकर्ष नहीं होता। अतः चित्त विषयाकार नहीं हो पाता। जैसे अन्धकार अपने अन्दर सभी पदार्थों को छिपाकर स्वयं दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार तमोगुण अन्य दो गुणों को तिरोहित कर स्वयं निद्रा वृत्ति के रूप में भासता है। अभाव का अर्थ पूर्ण अभाव नहीं अपितु अदर्शन माना गया है। पूर्ण अभाव निर्विकल्पक समाधि में होता है। सुषुप्ति काल में अज्ञान से ढका हुआ आनन्द द्रष्टा को अपना स्वरूप भासित होता है। जाग्रत तथा स्वप्न विषयक विषय बीज रूप से (संस्कार रूप से) विद्यमान रहते हैं। तभी तो सोकर उठा हुआ व्यक्ति यह कहता है मैं सुख पूर्वक सोया, बड़ा आनन्द आया। मेरा मन बड़ा प्रसन्न है। या मेरा शरीर भारी है। मेरा मन उदास है। मुझे अच्छी नींद नहीं आयी-आदि-आदि।

अन्य दार्शनिक मत–

न्याय दर्शन में निद्रा को ज्ञान का अभाव रूप वृत्ति माना है। क्योंकि सुषुप्ति में ज्ञान के साधन-ज्ञानेन्द्रियां तथा अन्तः करण निश्चेष्ट होते हैं अतः उस दशा में ज्ञान कैसे हो सकता है। वेदान्त में निद्रा अविद्या को विषय करने

वाली एक वृत्ति विशेष माना है। योग में निद्रा बुद्धि (सत्व) के आवरक तमोगुण को विषय करने वाली चित्त की एक वृत्ति है। किन्तु वेदान्त में अविद्या की वृत्ति द्वारा साक्षी चैतन्य सुख और अज्ञान को प्रकाशित करता है। 'सुषुप्ति काले सकले विलीने तमोऽभिभूतः (कै. उ. १३।) इस प्रकार श्रुति वाक्यों के आधार पर वेदान्ती चित्त को अपने कारण अविद्या में विलीन होने को निद्रा मानते हैं।

योग दर्शन में सभी प्राणियों को पाँच भागों में बाँटा गया है। क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ एकाग्र और निरुद्ध। प्रथम दो अवस्थाएँ रज और तम प्रधान हैं। मूढ़ अवस्था में क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्था का अभाव होता है इस अवस्था में चित्त वृत्तियों के निरोध होने जैसा भान होता है। निद्रा से जागने पर फिर क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्थाएँ आ जाती हैं। मूढ़ा-वस्था से एकाग्र अवस्था की ओर अभिमुख होने की चेष्टा होने लगती है। प्रगाढ़ निद्रा के बाद प्राणी का मन ध्यान धारणा में अधिक तत्पर होता देखा जाता है। यद्यपि एकाग्र अवस्था ही योग की कोटि में आती है— तथापि समाधि अवस्था जैसा सुख होने तथा चित्त की अनेकों वृत्तियों के दब जाने के कारण इसे योग पक्ष में माना जाता है। मोह भी जाग्रत अवस्था की नींद है। मोह, निशा सब सोवन हारा—देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा।' अज्ञानावस्था में साक्षी चेतन निद्रा के क्लेशों का अनुभव कर्त्ता बना रहता है। जब विषयों की मन में बिल्कुल चाह नहीं होती उस अवस्था को जाग्रत अवस्था कहा जाता है। 'यह जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपञ्च वियोगी।' इस भव निशा में ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा निर्विकार योगी ही जागता है। शेष सभी सोते ही रहते हैं।

निद्रा के सिद्धान्तों की कुछ खोजें—

निद्रा मनुष्य जीवन के १/३ भाग में व्याप्त रहती है। सन् १९५२ में शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एन क्लेटमन (N. KLeitman) तथा उसके शिष्य ई. ए सॉरस्की (E. Aserinsky) ने अपने अध्ययन में इस तथ्य का उद्‌घाटन किया कि नींद में बालक तथा वृद्धों की पुतलियां पलकों के अन्दर घूमती रहती है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि शरीर की सभी क्रिया इस अवस्था में विश्राम करने लगती है। चिन्तन तथा स्मृति शान्त नहीं हो पाते। मनुष्यों की थकी हुई मांस पेशियों तथा उसके मस्तिष्क को विश्राम देने के साथ-साथ निद्रा हलचल करने वाली क्रिया भी है। यदि मनुष्य की नींद के समय समय का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि सोने वाला तीन अवस्थाओं में संक्रमण करता रहता है। जैसे ही मनुष्य आँखे बन्द करता है वह सोने की तैयारी की अवस्था है। जिसमें पलक झपने की क्रिया बन्द हो जाती है तथा उसकी मांसपेशियां शिथिल हो जाती हैं। मस्तिष्क का चिन्तन भी शिथिल हो जाता

है, किन्तु पूर्ण शिथिल नहीं होता। नेत्र पुतलियाँ कुछ-कुछ स्थिर रहती है। मस्तिष्क की लहरें जाग्रत अवस्था में विचार रहित-स्थिति की भाँति सामान्यतया स्थिर होती है। उस अवस्था में मस्तिष्क का चिन्तन नष्ट नहीं होता और स्वप्न भी चलते ही हैं किन्तु उस अवस्था में मूर्त बिम्ब नहीं बनते। इस अवस्था में मनुष्य को थोड़े से आहट से ही जगाया जा सकता है। जागने पर स्वप्नों का स्मरण नहीं रहता। द्वितीय अवस्था गहन निद्रा की अवस्था है जिसमें मांसपेशियाँ सामान्य तथा शिथिल हो जाती है, हृदय की धड़कन सामान्य होती है तथा नेत्र गोलक बिल्कुल निश्चल हो जाते हैं। श्वास-प्रश्वास की गति जाग्रत अवस्था में एक मिनट में १६ बार होती है जो गहन निद्रा की अवस्था में घटकर आधी रह जाती है। मस्तिष्क में विचार प्रवाह तीव्र होता है। यद्यपि विचार राशि कम होती है। इस अवस्था में कुछ लोग खर्राटे लेते बड़बड़ाते तथा सोते-सोते चलते हुए भी देखे जाते हैं। कुछ लोग स्वप्न भी देखते हैं और भयावह रीत से बर्राने लगते है। इस अवस्था में व्यक्ति को जगाना अपेक्षाकृत कठिन होता है। व्यक्ति का नाम या उसके बच्चे का रोना अथवा उसकी बहुत ही प्यारी वस्तु के सम्बोधन से ही उसे जगाया जा सकता है। यह अवस्था अधिक समय नहीं रह पाती। थोड़ी ही देर में फिर व्यक्ति अनिद्रा अवस्था में आ जाता है जिसमें पुतलियाँ इधर-उधर चलने लगती है, स्नायुओं का तनाव बिल्कुल नहीं रहता। रक्तचाप, श्वास गति तथा हृदय स्पन्दन बढ़ जाता है। अंगों का संचालन होने लगता है तथा मस्तिष्क-प्रवाह की शक्ति कम हो जाती है किन्तु विचारों की संख्या बढ़ जाती है। मस्तिष्क में पसीना आने लगता है। स्वप्नों में मूर्त बिम्ब दिखाई पड़ते है। जगने पर उन स्वप्नों को याद रखा जा सकता है। इसी अवस्था में नवयुवकों को दुःस्वप्न जन्य अनेकों विकार होते हैं। इस अवस्था में भी व्यक्ति को आसानी से जगाया नहीं जा सकता। सोने के प्रथम चार घंटों में १५ मिनट ३० मिनट १५ मिनट के क्रम से क्रमशः हलकी, गहरी फिर हलकी नींद की अवस्था आती जाती रहती है। इस अवधि में पांच छः बार नेत्र गोलकों में १० से लेकर ४५ मिनट तक की हलचल देखी जाती है। प्रथम चार घंटों में ६० मिनट के करीब तथा बाद के तीन घंटा में ५० मिनट के करीब यह नेत्र गोलकों की हलचल देखी जाती है। नींद के कुल समय का ६० प्रतिशत समय हलकी नींद रहती है और शेष ४० प्रतिशत समय में गहन निद्रा तथा नेत्रों की तीव्र क्रिया होती है।

केलीफोर्निया नगर के स्टेनफोर्ड विश्व विद्यालय के प्रोफेसर डा० डब्लू डेमेण्ट ने नेत्र गोलकों की क्रिया वाली नींद की अवधि को दो भागों में विभाजित किया है। एक ओर

मांसपेशियों का तनाव कम होने की अवस्था है दूसरी ओर स्वप्न तथा श्वासगति की अवस्था है। गहरी नींद में शारीरिक वृद्धि होती है और स्वप्निल नींद से मानसिक विकास होता है बच्चों को गहरी नींद की बहुत जरूरत है और युवकों को स्वप्निल अवस्था लाभदायक है। स्वप्निल अवस्था में मस्तिष्क स्कूल में पढ़े गये पाठ को क्रमबद्धकर स्मरण करने योग्य बनाता है। जिनकी स्मृति कमजोर है वे यदि अपने पाठ रेडियो, टेपरिकार्डर या किसी व्यक्ति से सुनते-सुनते सो जायें तो जगने पर उन्हें वह पाठ याद हो जायगा।

मनोविश्लेषण-शास्त्री फ्राइड नामक मनोवैज्ञानिक ने मानसिक शक्तियों के विकास के लिए स्वप्न अवस्था को बहुत आवश्यक माना है। यदि किसी व्यक्ति को स्वप्न न देखने दिये जायें तो उसको जब कभी नींद आती है वह पहले से अधिक स्वप्न देखने लगता है। अचेतन मन की विकृतियाँ और ग्रन्थियों को दूर करने में निद्रा के स्वप्न बहुत मदद करते हैं। इसलिए उसने सम्मोहन, कृत्रिम निद्रा द्वारा मानसिक विक्षिप्त रोगियों को ठीक करने का उपाय निकाला। चिकित्सा विज्ञान में भी नींद की गोलियाँ और इंजेक्शनों का प्रयोग चल रहा है। इनके प्रयोग से रोगी को राहत मिलती है। दमित भावनायें स्वप्न में वेश बदलकर बाहर निकल आती हैं और चेतन मस्तिष्क को बिना हानि पहुंचाये व्यक्त हो जाती हैं जिससे व्यक्तित्व का संतुलन बना रहता है। कुछ प्रयोग करके देखा गया कि यदि व्यक्ति को स्वप्न देखने से रोका जाय तो वह बहुत चिड़चिड़ा तथा आक्रामक हो जाता है। ओटावा के डा० आर. ब्राउटन (R. Broughton) ने गहन निद्रा की अवस्था का निरीक्षण कर निष्कर्ष निकाले कि इस अवस्था में स्वप्न से भिन्न प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं जिन्हें अंग्रेजी में (Nightmare) और हिन्दी में उच्चाट या बर्रो की अवस्था कहते हैं। जब किसी बाहरी शोर या आन्तरिक विकार के द्वारा गहरी निद्रा में व्यवधान पड़ता है तो बर्राने की अवस्था आ जाती है।

नींद का समय और मात्रा

नींद का समय मध्यरात्रि के दो घंटे पहले और दो घंटे बाद का सबसे अच्छा माना जाता है। विशेषज्ञों का मत है कि बारह बजे रात्रि से पहले की नींद बाद के घंटों के मुकाबिले आधी ही काफी है। अर्थात् दस बजे से १२ बजे तक की दो घंटे की नींद दूसरे समय के चार घंटे की नींद के बराबर है। हमारे धर्म शास्त्रों में भी जल्दी सोने का विधान है। एक अंग्रेजी कहावत है—"Early to bed early to rise Makes a man healthy weathy and wise" अर्थात् जल्दी सोना और जल्दी उठना व्यक्ति को तन्दुरुस्त, धनी और बुद्धिमान बनाता है। शास्त्रों का भी यह सिद्धान्त है कि ब्राह्म-मुहूर्त में अर्थात् प्रातः चार बजे बिस्तर छोड़कर शौचादि नित्यकर्म कर ध्यान करते हैं उनकी

आन्तरिक शक्तियाँ शीघ्र जगती हैं। उस समय सभी ऋषि मुनि प्रभु चिन्तन करते हैं। अतः यदि कोई उस समय ध्यान करता है है तो प्रकृति की ताजगी शरीर की स्फूर्ति के साथ-साथ महात्माओं की ध्यान-विद्युत धारा का साधक को प्रत्यक्ष लाभ होता है जिससे शीघ्र ही मन एकाग्र हो जाता है। मन की प्रसन्नता के लिए नींद के घंटे और मात्रा की अपेक्षा की गहरी नींद अधिक आवश्यक है। जो प्रातः शीघ्र जग जाता है वह पूरे दिन उत्साह से काम करने की स्थिति में रहता है तथा उसे कब्जों की शिकायत स्वप्न दोष आदि व्याधियाँ भी नहीं होती। ब्राह्म मुहूर्त में सुषुम्ना नाड़ी का द्वार अपने-आप खुल जाता है। अन्य समय अनेक प्रकार की हठयोग की क्रियाओं से खुलपाता है। अतः उसे अमृत-बेला कहा गया है इस अवस्था में किया गया जप अनुष्ठान शीघ्र फलदायी होता है। जो इस अमृत बेला में सोता रहता है उसका भाग्य सोता है।

'ब्राह्मे मुहूर्त्ते या निद्रा सा पुण्य-क्षय कारिणी।'

महाराज मनु ने आदेश दिया कि ब्राह्म मुहूर्त में जगकर धर्म और अपने कर्तव्य कर्मों का चिन्तन करना चाहिए। इस समय उठकर दिन भर कार्य करने की रूपरेखा बनाकर जो व्यक्ति अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है उसके सोचे हुए सब कार्य पूरे हो जाते है। उसके मन में सद् चिन्तन और सत्कर्म करने की शक्ति आती है। अतः मनु महाराज ने कहा—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुद्धेत धर्मार्थं चापि चिन्तयेत्।

नींद की मात्रा के सम्बन्ध में मनुष्य के शरीर की बनावट और उससे कार्य तथा आयु के साथ-साथ उसके भोजन पर बहुत कुछ निर्भर करता है। एक वर्ष से चार वर्ष तक के बच्चे को कम से कम १२ घंटे की नींद आवश्यक है। एक किशोर को आठ घंटे की नींद आवश्यक है। नवयुवक को छः घंटे तथा वृद्ध को चार घंटे की नींद बताई है। जो लोग सात्विक आहार करते है उन्हें राजसिक और तामसिक आहार करने वाले की अपेक्षा सोने के कम घंटे चाहिए। जो भोजन में प्रोटीन अधिक लेते हैं उसे हजम करने के लिए पाचन-संस्थान को अधिक कार्य करना पड़ता है जिससे मस्तिष्क में कार्य करने वाला एक पाचन संस्थान में कार्य करता है अतः निद्रा और अवस्था के घंटे अधिक होते है। शिकागो विश्वविद्यालय के डा० मुनरो ने अपने अध्ययन से निष्कर्ष निकाला कि अच्छी निद्रा का आनन्द लेने वाले व्यक्ति लेटते ही गहरी नींद मे चले जाते है। सात घंटे में साढ़े छः घंटे वे गहरी नींद का आनन्द लेते है और पच्चीस प्रतिशत समय अन्य दो प्रकार की निद्रा स्थिति में रहते हैं जब कि बुरी निद्रा वाले व्यक्ति केवल सत्रह प्रतिशत समय में स्वप्न निद्रा मे रहते है शेष समय में हल्की नींद में रहती है। एडिनबरा विश्व-विद्यालय के डा० आई ओसवाल्ड ने बहुत अच्छी नींद वाले व्यक्तियों के निरीक्षण से

निष्कर्ष निकाला कि वे चार घंटे में ही गहरी नींद से अपनी नींद की आवश्यकता पूरी कर लेते हैं और लेटते ही एकदम गहरी नींद में डूब जाते हैं। बहुत सोने वाले व्यक्ति देर से गहरी नींद में प्रवेश कर पाते हैं उन्हें प्रायः सिरदर्द अकेलापन, हतोत्साह रहता है। बोस्टन विश्वविद्यालय के डा० ई० हार्टमन (Br. E. Hart mann,) ने यह देखा कि लम्बे समय तक सोने वाले लोग अधिक शर्मीले मनहूस तबियत के तथा दीर्घ सूत्री होते हैं। जबकि थोड़ा सोने वाले महत्वाकांक्षी तथा आक्रामक होते हैं।

अनिद्रा, कृत्रिमनिद्रा तथा औषधि—

फ्रांस के डा० एम० जुवेट ने अनिद्राग्रस्त व्यक्तियों का अध्ययन कर पता लगाया कि मस्तिष्क में एक सेरोटोनिन नामक रसायन विद्यमान रहता है। इसकी कमी होने से चिड़चिड़ा स्वभाव और अनिद्रा रोग हो जाता है। डा० डोमेण्ट ने बिल्ली के मस्तिष्क से शल्यक्रिया तथा औषधियों द्वारा उपर्युक्त रसायन निकालकर देखा कि उनमें निद्रा का अभाव हो गया है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सामाजिक राजनीतिक या आर्थिक अथवा पारिवारिक व्यावसायिक अनिश्चितता आदि दबावों से चिन्तातुर रहते हैं अथवा कोई जघन्य अपराध कर छिपना चाहते हैं वे प्रायः अनिद्रा के शिकार रहते हैं। जिनके अचेतन और चेतन मन में द्वन्द्व की तीव्र स्थिति होती है वे प्रायः सोते-सोते चलते हैं। दवायें व्यक्ति को नींद तक पहुँचाने में प्रायः सफल रहती हैं किन्तु व्यक्ति को नींद में सुलाये रखने में दवायें उतनी कारगर सिद्ध नहीं हो पाती। जिन रोगियों को रक्तचाप की शिकायत रहती है उन्हें नींद लाने वाली दवाओं से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। कुछ वर्षों से यौगिक क्रियाओं से अमेरिका में अनिद्रा 'भय चिन्ता तथा निराशा ग्रस्त व्यक्तियों की सफल चिकित्सा की जा रही है। क्लोरोफार्म तथा सम्मोहन से भी नींद लाई जाती है किन्तु उससे तनाव की स्थिति कम नहीं होती। मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क के साथ उसके इशारे पर काम करने लगता है। इतना लाभ अवश्य होता है कि सम्मोहन में स्वप्निल नींद द्वारा अचेतन मन अधिक क्रियाशील हो जाता है जिससे कुण्ठायें दूर हो जाती हैं।

बादाम नग ५ मुनक्का नग १० काली मिर्च १० तथा पोस्त आधा तोला ब्राह्मी एक तोला घोट कर दूध में छौंक कर पीने से अनिद्रा रोग से निवृत्ति हो जाती है। बकरी के दूध में अफीम मिलाकर पैर के तलवों पर लेप करने पर भी नींद आ जाती है। परन्तु अच्छी नींद लाने के लिये ध्यान योग से बढ़ कर कोई सरल उपाय नहीं है। वास्तव में योगी ही नींद का आनन्द लेना जानता है।

निद्रा को योग में सहायक बनाने का उपाय

सहजोबाई ने कहा है—सोना तो सबसे भला जो कोई जाने सोय। अन्तर्गती लागी रहे सहजो सोवन सोय। सोने के पहले जप और

(शेष पृष्ठ ७४ पर)

भारतीय संस्कृति का अमर आधारस्तम्भ "गायत्री-मन्त्र"

(डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी एम.ए.पी-एच.डी.)
साहित्य सांख्य योगाचार्य

यस्याः पावनगर्भगोलविवराज्जाता श्रुतीनां त्रयी,
स्रष्टुः सृष्टिविधानकर्मविकलतावाचायकं सन्दधे।
तां तत्त्वार्थविबोधिवर्णविभवैरुद्योतितात्मश्रियं,
गायत्रीं श्रुतिमातरं परशिवां विन्देम सच्चित्कलाम्।
—भारतीय संस्कृति

विश्व के अतिविशाल इस भू-भाग में सर्वत्र व्याप्त मानव-समाज की अपनी-अपनी प्रवृत्ति और निवृत्ति, आहार-विहार, आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान तथा साहित्य, धर्म, राजनीतिक परिस्थिति, सामाजिक सम्पन्नता आदि के आधार पर उनकी भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का निर्माण हुआ है। भारतीय जनजीवन की संस्कृति में बहुत प्राचीन काल से ही श्रौत और स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान, वैदिक वाङ्मय का स्वाध्याय, घर-घर में पवित्र वेदमन्त्रों का उद्घोष, यज्ञ-धूम के सौरभ का सञ्चार, 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' की भावनाओं का विकास एवं 'भद्रं पश्येम, भद्रं शृणुयाम, विश्वं पुष्टं ग्रामेऽस्मिन्ननातुरम्, द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः''''सा मा शान्तिरेधि' आदि सर्वकल्याण की कामनाओं का उद्रेक विद्यमान रहा है। उसी का परिणाम है कि लौकिक आवर्तों और विवर्तों में भी अडिग रहकर भारतीय संस्कृति उत्तरोत्तर वर्धमान रही है।

व्यष्टि और समष्टि के संस्कारों की अभिव्यक्ति ही संस्कृति है। संस्कृति के मूलाधार तत्त्व हैं—आस्तिकता, सेवा, सदाचार, त्याग बलिदान, सत्य, अहिंसा, अतिथि-सेवा, शरणागत-वत्सलता, पति-व्रत-धर्म, दर्शन, भाषा, जाति-व्यवस्था, उत्तमशिक्षा एवं मर्यादा का पालन। इनके सामूहिक विकास की परिणति ही संस्कृति है और इन सब उपर्युक्त बातों की मूल-प्रेरिका, केन्द्रस्थल अथवा एक

निर्देशिका यदि कोई है तो वह बुद्धि ही है। गायत्री- मन्त्र बुद्धि का मन्त्र है, बुद्धि की प्रेरणा का मन्त्र है, बुद्धि के नियन्त्रण एवं उत्तम कर्मों में लगाने का मन्त्र है। अतः भारतीय संस्कृति का इससे बढ़कर आधार-स्तम्भ और क्या हो सकता है ?

गायत्री शब्द विचार -

शब्द की सिद्धि का शास्त्र व्याकरण है। शब्दों की व्युत्पत्ति करते हुए उसके अर्थ का प्रतिपादन करना इस शास्त्र का कार्य है। इसके अनुसार गायत्री शब्द की सिद्धि दो धातुओं के योग से मानी गई है। जैसे—

'गायन्तं त्रायते या सा गायत्री'

इस व्युत्पत्ति में शब्दार्थक 'गै' धातु से निष्पन्न 'गायत्' शब्द तथा 'त्रैङ् पालने' धातु से 'क' प्रत्यय करके धातु के अन्त्य स्वर तथा प्रत्यय के आदिव्यञ्जन 'क्' का लोप होने पर 'गायत्त्र' शब्द को स्त्रीलिंग में 'ई' प्रत्यय लगाने से 'गायत्त्री' शब्द सिद्ध होता है तथा 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टानि' सूत्र का पृषोदरादिगण आकृतिगण होने से गायत्त्री' शब्द को इस गण में पठित मानकर गायत शब्द के 'त्' का लोप हो जाने से 'गायत्री' शब्द निष्पन्न होता है।

अथवा 'गै' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके 'गाय' शब्द बना लें और 'गायेन त्रायते इति गायत्री, इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'त्रैङ्' धातु के योग से 'गायत्री' शब्द सिद्ध होता है। 'वाचस्पत्य-कोष' में इन दोनों प्रकारों से शब्द-सिद्धि की गई है। इस दृष्टि से 'गान करने वाले की रक्षा करने वाली' यह अर्थ होता है। निरुक्तकार यास्क ने इस शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा है कि—

'गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः'

तथा वहीं भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि—

'यथा हि गीयन्ते स्तूयन्ते देवाः'

अर्थात् गायत्री छन्द से देवताओं की स्तुति की जाती है, इस लिए इसे गायत्री छन्द कहा गया है। यहां शब्दार्थक 'गै' धातु से 'उणादि' का 'अत्रिन्' प्रत्यय लाकर अन्त के 'य्' का लोप होने पर 'गायत्रि' शब्द बना है और 'कृदिकारादक्तिनः' इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग का ई प्रत्यय लगाकर 'गायत्री' शब्द सिद्ध किया है। एक अन्य स्थान पर एक और पद्धति से इस शब्द की सिद्धि करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं—'त्रिगमना वा विपरीता' और भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि—

'त्रिषु ऋग्यजुःसामसु गमनं पादशो यस्याः सा विपरीता वर्णव्यत्ययमापन्ना सती गायत्री'

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद में छन्दोबद्ध पाद से जिसका गमन है ऐसी तथा पद को विपरीत कर देने से गायत्र शब्द सिद्ध हुआ है। इस प्रक्रिया में 'पादशः' त्रिषु गच्छति' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'त्रिगायत्' शब्द बनता है जिसे वर्णव्यत्यय द्वारा 'गायत्री' बनाया गया है। महर्षि मनु ने भी इस अर्थ की पुष्टि में कहा है—

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः,
पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः,
परमेष्ठी प्रजापतिः ॥

अर्थात् 'ब्रह्माजी ने सावित्री (गायत्री) मन्त्र के तीन पादों में क्रमशः ऋग्वेद से प्रथम पाद, यजुर्वेद से द्वितीय पाद और सामवेद से तृतीय पाद का दोहन किया है ? पुनः निरुक्तकार ने लिखा है कि—'गायतो मुखादुदपतत्' और भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि—

'गायतो ब्रह्मणो मुखात् त्रिभ्यो वेदेभ्यः सकाशात् उदपतत् निरगात् पादश इति'

अर्थात् 'गान करते हुए ब्रह्माजी के मुख से तीनों वेदों में से तीन पदों के रूप में निकली हुई होने से यह 'गायत्री' कहलाती है।

उपनिषदों में 'गायत्री' शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि—

'प्राणा वै गयास्तत् प्राणांस्तत्रे तद्यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नामः ।'

अर्थात् 'गय' का अर्थ है 'प्राण' और इन प्राणों की जो रक्षा करती है वह है गायत्री। इसी प्रकार कुछ अर्थ 'तान्त्रिक शब्दार्थ-पद्धति' के आधार पर एक-एक अक्षर लेकर भी किये गये हैं जिनका सारांश भी उपर्युक्त अर्थों में ही समाविष्ट होता है। पुराणों में गायत्री पर पर्याप्त लिखा हुआ है।

गायत्री छन्द है अथवा मन्त्र ?—

वैसे तो गायत्री शब्द के- गायत्री देवी, गायत्री छन्द और खदिर काष्ठ आदि अर्थ होते हैं जो लोक में प्रसिद्ध भी हैं किन्तु अधिकांश लोग यह विवाद करते रहते हैं कि यह तो छन्द का नाम है, अतः किसी एक ऋचा के लिये क्यों माना जाता है ? इसका समाधान यह है कि भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यने छान्दोग्योपनिषद्भाष्य में गायत्री के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—

गायत्रीद्वारेण चोच्यते ब्रह्म। ब्रह्मणः सर्वविशेषरहितस्य नेति नेतीत्यादिविशेषप्रतिषेधगम्यस्य दुर्बोधत्वात्। सत्स्वनेकेषु छन्दःसु गायत्र्या एव ब्रह्मज्ञानद्वारतयोपादानं प्राधान्यात्। सोमाहरणादितरच्छन्दोऽक्षराहरणेनेतरच्छन्दोव्याप्त्या च सर्वसवनव्यापकत्वाच्च यज्ञे प्राधान्यं गायत्र्याः ।

- इत्यादि (छां० उ० ३।१२।१)

अर्थात् 'गायत्री के द्वारा ही ब्रह्म का निरूपण किया जाता है। जाति-गुणादि समस्त विशेष रहित, निर्विशेष, नेति-नेति के द्वारा अखिल विशेषों के प्रतिषेध से जानने योग्य ब्रह्म स्वतः दुर्विज्ञेय है। अतः वह गायत्री से जाना जा सकता है, मन्त्रों के अनेक छन्द हैं, परन्तु गायत्री छन्द का ही प्रधानतया ब्रह्मज्ञान के

द्वारभाव से ग्रहण किया जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञानोपयोगी प्रधान मन्त्र गायत्रीमन्त्र ही है। सोमरस का आहरण करने से, उत्तर छन्दों में व्याप्ति होने के कारण तथा समस्त प्रातःसवनादि कर्मों में व्यापक होने के कारण यज्ञ जपादि में गायत्री की ही प्रधानता है।' इत्यादि। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में भी आचार्य ने—

'सर्वच्छन्दसां हि गायत्रीच्छन्दः प्रधानभूतम्'।

अर्थात् सब छन्दों में गायत्री छन्द ही प्रधान कहा है। और यह 'गायत्री' छन्दोमयी होते हुए भी पिङ्गलशास्त्र की दृष्टि से ८-८ अक्षरों वाले तीन चरणों के पद्य तक ही सीमित नहीं है क्योंकि यह चतुष्पदा—छः-छः अक्षरों के चार चरणों से भी प्रयुक्त है। यदि चौबीस अक्षरों वाले मन्त्र का ही गायत्री मन्त्र अर्थ होता तो ओंकार, व्याहृति एवं अन्यान्य बीज मन्त्रों के भी विनियोग में गायत्री छन्द का जो निर्देश प्राप्त होता है उनके लिये क्या कहा जायगा? ब्राह्मणादि बालकों को उपनयन के प्रसंग पर जो मन्त्रोपदेश गुरुद्वारा दिया जाता है उसमें अन्य चौबीस अक्षरों वाले मन्त्र का उपदेश न होकर जिस गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया जाता है वही गायत्री-मन्त्र है। इसी प्रकार निरुक्त में एक स्थान पर कहा गया है कि—

"गायत्रीमेव त्रिपदा सती चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति-इति च ब्राह्मणम्।"

तथा भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि—

'अत्र स्वमतं च शब्देन समुच्चिनोति। गायत्री त्रिभिरष्टाक्षरैः पादैः समाप्यते। तस्याश्च पुनरपरश्चतुर्थः पादो भवति येन तामेव (गायत्रीम्) अनुष्टुबनुष्टोभति (अन्वर्चतीत्यर्थ)।

अर्थात् गायत्री-मन्त्र अथर्ववेद के साररूप चतुर्थपाद के साथ समन्वित होकर अनुष्टुप् छन्द के रूप में ३२ अक्षरों वाला बनकर भी उसी पद को प्राप्त होता है, इत्यादि। अतः अनुष्टुप् छन्द को भी गायत्री-मन्त्र मानने से तथा 'गायन्तं-त्रायते' इत्यादि विविध व्युत्पत्तियों द्वारा रूढार्थ होने से यह केवल छन्द ही नहीं है अपितु महामन्त्र है। उपनयन-संस्कार में दिये जाने वाले उपदेश में विनियुक्त होने से अन्यान्य चतुर्विंशत्यक्षरात्मक मन्त्रों के रहते हुए भी इसी मन्त्र का ग्रहण होने से, समस्त छन्दों की माता 'गायत्री छन्दसां माता' और 'गायत्री छन्दसामहम्' में एकवचन होने से, जैसे पुष्पों का सार मधु है, दूध का सार घृत है और रस का सार दूध है, उसी प्रकार समस्त वेदों का सार गायत्री-मन्त्र होने से, 'ब्रह्म वै गायत्री' 'गायत्री वा इदं सर्वम्' ब्रह्म ही गायत्री है, यह संसार जो कुछ है वह सब गायत्रीरूप

है, इत्यादि अनन्त प्रमाणों के आधार पर यही निर्विवाद सत्य है कि—यह केवल मन्त्र नहीं अपितु- गीता के शब्दों में—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां,
ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां,
योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

को सत्य सिद्ध करने वाला एक अद्वितीय महामन्त्र है। और समस्त श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम आदि में कहे गये मन्त्रों का सार है।

गायत्री उपासना की आवश्यकता—

योगी याज्ञवल्क्य ने 'मानव को उपासना क्यों करनी चाहिये ?' इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा है कि - 'जब प्राणिमात्र में वह सर्वशक्तिमान् प्रभु विराजमान है और वही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, कर्ता, भोक्ता, नियन्ता, परब्रह्म, शरीर को तथा इन्द्रियों को प्रेरित करता है तो फिर उपासना की क्या आवश्यकता है ? और उत्तर में स्पष्ट किया है कि—

गवां सर्पिः शरीरस्थं ,
न करोत्यङ्गपोषणम् ।
निःसृतं कर्मसंयुक्तं,
पुनस्तासां तदौषधम् ॥

विना चोपासनादेव,
करोति न हितं नृषु ।

— इत्यादि ।

"जैसे दूध में अन्तर्निहित घृत गायों के शरीर में रहते हुए भी उनके अंगों का पोषण नहीं करता है अपितु दूध निकालकर, दही बनाकर उसका मन्थन कर घृत बनजाने पर वह औषध का कारण बनता है वैसे ही उपासना के बिना शरीर में स्थित परमात्मा भी उपकार नहीं करते हैं।" अतः उपासना अत्यावश्यक है। वह उपासना किसी भी देव-देवी अथवा निराकार की भी हो सकती है फिर गायत्री की ही क्यों की जाय ? इसका समाधान यह है कि—

'दुर्लभाः सर्वमन्त्रेषु,
गायत्री प्रणवान्विता ।
न गायत्र्यधिकं किञ्चित्,
त्रयीषु परिविद्यते ॥'
'न गायत्री समो मन्त्रः
गायत्री वेदजननी,
गायत्र्यास्तु परं नास्ति ,
वेदाः साङ्गास्तु चत्वा-
रोऽधीताः सर्वेऽथ वाङ्मयाः।
गायत्री यो न जानाति,

वृथा तस्य परिश्रमः ॥
गायत्रीमात्रसन्तुष्टः
श्रेयान्विप्रः सुनियन्त्रितः ।
नायन्त्रि तस्त्रिवेदोऽपि,
सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥

इत्यादि वेद, वेदाङ्ग, तन्त्र, स्मृति, पुराणादि समस्त शास्त्रों की आज्ञा एवं महामहिमशालिनी, सर्वार्थसाधिनी तथा सर्वप्रथम सरलता से प्राप्त अशरणशरण, करुणामयी माता होने से गायत्री ही सदा उपासनीया है।

इतना ही नहीं 'शौनकीय अभिधान' में तो यह स्पष्ट ही कहा गया है कि—

प्रथमं लक्ष-गायत्रीं,
सप्त व्याहृति-सम्पुटाम् ।
ततः सर्ववेदमन्त्रैः,
सर्वसिद्धिञ्च विन्दति ॥

अर्थात सात व्याहृतियों से सम्पुटित गायत्री मन्त्र का सर्व प्रथम एक लाख जप करना चाहिये (ऐसा करने से) सभी वेद मन्त्रों से सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र सभी अन्यान्य मन्त्रों की सिद्धि का द्वार है। इसकी उपासना के बिना अन्य मन्त्रों की सिद्धि कठिन है।

हमारे पूर्व-महर्षि गौतम, वसिष्ठ, कणाद, अङ्गिरा आदि ने गायत्री मन्त्र की उपासना से ही 'अद्भुत' और अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की थीं। अतः गायत्री की उपासना अत्यन्त आवश्यक तथा उपादेय है।

गायत्री उपासना के प्रकार—

जैसे उपास्य देव अनन्त हैं, उपासक भक्त अनन्त हैं उसी प्रकार उपासना के भी अनेक भेद हैं। निराकार और साकार इन दो भेदों में विभक्त ये सभी प्रकार ग्राह्य हैं। साधक को प्रारम्भ में साकार उपासना करनी चाहिये, जिसमें स्नान, सन्ध्या, पूजा, कवचादि पाठ एवं जप महत्त्व पूर्ण हैं। इसमें मूर्ति अथवा चित्र का आश्रय अपेक्षित है। इसके पश्चात् यन्त्र के रूप में उपासना करे, जिसमें यन्त्रगत रेखा-बिन्दु आदि में शास्त्राज्ञा के अनुसार देव-देवी-भावनापूर्वक पूजा, आवरण पूजा आदि करे और जप एवं ध्यान द्वारा आगे बढ़े। जब और उच्च भूमिका पर पहुँच जाए तो उसी यन्त्रस्वरूप को अपने देह में भावना कर समस्त यन्त्रपूज्य देवताओं की स्वशरीर में ही मानसिक पूजा करे तथा जपादि करता रहे। कुछ साधक मन्त्रवर्णों को लिखकर उनकी भी अर्चना करते हैं व वर्णमयी देवता की पूजा को भी यन्त्ररूप में ही मानते हैं। जप के विभिन्न प्रकारों में माला-सहकृत जप सर्व-

विहित है किन्तु यदि माला-रुद्राक्षादि को न लेकर वर्णमाला के माध्यम से अर्थात् 'अ' से 'क्ष' और 'क्ष' से 'अ' तथा 'अ-क-च-ट-त-प-य-श' इन वर्णों को प्रत्येक मन्त्र के बाद ॐ नमः, आं नमः इस तरह बोल कर जप किया जाय तो वह विशिष्ट जप होगा। यदि आद्यन्त में ऐसा जोड़ कर जप किया जाए तो वह उससे और विशिष्ट होगा तथा इन्हीं वर्णों के लिये शरीर में जो नियत स्थान शास्त्रों में बतलाये हैं वहाँ-वहाँ धारणा करते हुए जप किया जाए तो वह सर्वश्रेष्ठ जप होगा। इसी प्रकार अन्य लिपियों के आधार पर भी तन्त्रों में जप के प्रकार बतलाये हैं। मन्त्र लेखनात्मक जप भी बहुधा प्रचलित है। इस प्रकार के जप का पुरश्चरण तन्त्रों में पञ्चदशी-मन्त्र के लेखन के नियमों तथा लिखित मन्त्रों के हवा में उड़ाने, मछलियों को आटे की गोली बनाकर खिलाने, हवन करने, तर्पण करने आदि की प्रक्रिया से किया जाय तो वह अत्युत्तम होगा। इसके के लिए 'राम-नाम-लेखन-विधि' में सूचित विधि और नियमों का पालन अवश्य होना चाहिये।

गायत्री मन्त्र के रूप—

यद्यपि मूल गायत्री-मन्त्र-'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्' इतना ही ऋग्वेद के ३।६२।१० में, शुक्लयजुर्वेद के ३।३५+२२।९+३०।२+३६।३ में, तैत्तिरीय संहिता के १।५।६।४+४।१।११।१ में, तै० आ० के १।११।१ में, सामवेद के १३।४।७।६ तथा अथर्ववेद के ३।१७।२ में प्राप्त होता है। तथापि उत्तर काल के महर्षियों ने उक्त मन्त्र को साधना के क्षेत्र में अधिक फलप्रद बनाने के लिये 'ओङ्कार ही गायत्री है, गायत्री ही ओङ्कार है' इस दृष्टि से एक ओङ्कार का योग करके जप की आज्ञा दी है। फिर गायत्री मन्त्र का जप भिन्न-भिन्न पद करके करना चाहिए, इस आदेश के अनुसार तीनों चरणों के आदि में ॐ जोड़े गये। इस प्रकार तीन प्रणव पूर्वक जप का विधान हुआ। जब आदि में तीन व्याहृति 'भूर्भुवः स्वः' का समावेश हुआ तो इसके पहले भी एक ॐ लगाने से चार ओंकार पूर्वक जप का प्रकार बना। अन्त में एक ओङ्कार लगाने से पञ्चप्रणव व्याहृतियुक्त गायत्रीमन्त्र का जप करने से पूर्वमहर्षियों ने जब शीघ्र सिद्धि प्राप्त की होगी तो वैसा मन्त्र जप प्रचलित हुआ। कुछ अन्य साधकों ने देवी-प्रणव ह्रीं को साथ लगाकर सिद्धि प्राप्त की और कुछ ने प्रतिचरण के आदि में क्रमशः ह्रीं श्रीं क्लीं को मिला कर जप का निर्धारण किया मन्त्र के अन्त में 'नमः' पद लगाने से अधिक सफलता प्राप्त करने पर इसे भी साथ लिया गया। इसी प्रकार बाला-बीज 'ऐं क्लीं सौः

को क्रमशः तीनों चरणों के आदि भाग में संयुक्त करके जप का भी अपूर्व माहात्म्य मिलता है। ऐसे ही अपने-अपने इष्ट मन्त्रों को गायत्री मन्त्र के साथ सम्पुटित करने का विधान भी प्राप्त होता है। कुछ ग्रन्थों में 'चतुर्थ, चरण-सहित अथवा दशांश के रूप में चतुर्थ चरण 'तुरीया-गायत्री' के जप का भी निर्देश है। जप के पूर्वाङ्ग मन्त्रों के रूप में 'सप्त व्याहृति सहित' गायत्री मन्त्र तथा शिरोमन्त्र का जप, गायत्री भैरव के मन्त्र का जप, शताक्षरी गायत्री का जप तथा सातों व्याहृतियों में ओङ्कार लगाने का विधान है। इसी तरह उत्तराङ्ग मन्त्रों में तुरीया गायत्री का दशांश जप और 'ॐ नमः शिवाय' का दशांश जप शास्त्रों में वर्णित है। विशेष प्रयोगों के लिये गायत्री के समस्त वर्णों को ओङ्कार-सम्पुटित कर जपने का विधान गायत्रीतन्त्र में है। ब्रह्मदण्ड मन्त्रात्मक गायत्री, ब्रह्मास्त्र मन्त्रात्मक गायत्री और ब्रह्मशीर्षात्मक गायत्री मन्त्र के प्रयोग विश्वामित्र कल्प में दिखाये गये हैं। महर्षि शुक्राचार्य ने महामृत्युञ्जय मन्त्र के पदों के साथ गायत्री मन्त्र को जोड़ कर अमृतसञ्जीवनी गायत्री का भी विधान किया है। इनके अतिरिक्त ब्राह्मणों के लिये प्रणवत्रय सम्पुटित त्रिपदा गायत्री तथा क्षत्रिय और वैश्यों के लिये द्विप्रणवयुक्त द्विपदा गायत्री का संकेत गायत्रीतन्त्र में है। कहीं-कहीं तीनों वर्णों के लिये भिन्न-भिन्न गायत्री के मन्त्र भी हैं।

इसी मन्त्र को प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल, तुरीयकाल एवं भासा काल में जपने के लिये सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा के रूप में निश्चित पद्धति बनी है। इसी दृष्टि से अवस्था भेद ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी के लिये जप की प्रक्रिया में भी व्यवस्था है जिसमें सृष्टि जप क्रमशः १-२-३ चरण रूप, स्थितिजप २-३-१ चरण और संहार जप ३-२-१ चरणरूप है।

गायत्री का सूक्ष्मरूप पञ्चदशी और षोडशी श्रीविद्या है। 'त्रिपुरोपनिषद्' और 'वरिवस्या-रहस्य' में कहा गया है कि 'गायत्री के दो रूप हैं स्पष्ट और गोपनीय। चतुर्विंशत्यक्षर वाला मन्त्र स्पष्ट रूप है और पञ्चदशी के त्रिकूट में सङ्केतात्मक वर्ण उसका गोपनीय रूप है। श्रीविद्या पञ्चदशी के मन्त्र विभिन्न उपासक १-वरुण, २-धर्मराज, ३-अग्नि, ४-नागराज, ५-वायु, ६-बुध, ७-ईशान, ८-रति, ९-नारायण, १०-ब्रह्मा, ११-जीव, १२-अगस्त्य, १३-लोपामुद्रा, १४-मनु, १५-कुबेर, १६-नन्दी, १७-सूर्य, तथा १८-दुर्वासा आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं और इनके भी कालभेद तथा क्रमदीक्षा भेदों से अनन्त रूप है।

और इन सब विद्याओं तथा गायत्री का मूल है प्रणव। सम्भवतः यही सोचकर उत्तर काल में सब मन्त्रों को छोड़ ॐ का जप करना

ही श्रेयस्कर मान लिया गया। किन्तु यह नहीं सोचा कि साधारण इंजीनियरिंग अथवा साइन्स का जानकार क्या कभी एटमबम्ब के प्रयोग में सफल हो सकता है? क्या चींटी जैसी वस्तु के लिये अणु-विस्फोट प्रयोग बुद्धिमत्ता है? क्या सीढ़ियों को छोड़ छलांग मारकर ऊपरी मन्जिलों पर पहुँचना सम्भव है? यदि नहीं तो आर्षपरम्परा से उपदिष्ट मर्यादित मार्ग को छोड़ मनमाने प्रयोग से कब लाभ हो सकता है?

अनेकता में एकता—

कोई भी साधना करने की इच्छा रखने वाला जब इस ओर प्रवृत्त होता है, तब इस प्रकार विभिन्न मन्त्र, यन्त्र, योग, स्वरोदय साधना की पद्धतियाँ आदि देखकर वह सोचता है कि "इनमें से कौनसा मन्त्र लक्ष्योपयोगी है? किस मन्त्र से शीघ्र सिद्धि होगी? आदि।" तब वह यह भी सोचता है कि जैसे आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति में छोटी-सी औषधि के पीछे उसकी व्यवस्था, अनुपान और पथ्य आदि का बड़ा प्रबन्ध रहता है तथा रोगशमन में भी पर्याप्त समय लगता है उसी प्रकार यह साधना कर्म है और विद्वानों से - ग्रन्थों से यह जानने की चेष्टा करता है कि 'वैदेशिक चिकित्सा पद्धति, के समान बनी-बनाई पैकेट बन्द दवाई अथवा सूची-चिकित्सा इन्जेक्शन, शल्यचिकित्सा-ऑपरेशन के समान कोई तात्कालिक प्रयोग अथवा मार्ग नहीं है? जिससे बिजली के स्विच दबाने के साथ ही लट्टू के जल उठने के समान मन्त्र बोलते ही कार्य सिद्ध हो जाए।

हम फल की ओर तो टकटकी लगाये रहते हैं किन्तु उसकी प्राप्ति के लिये किये जाने वाले प्रयास में शिथिल रहते हैं। विज्ञान द्वारा उपलब्ध होने वाली तात्कालिक सुविधाओं के पीछे भी उनके निर्माताओं की तपस्या है। डॉक्टर, वैज्ञानिक अथवा इन्जीनियर की अध्ययन तथा अनुभव, सम्बन्धी साधना भी किसी तपस्या से कम नहीं है। और यह भी प्रत्यक्ष है कि सभी गोलियाँ सफल नहीं होती, सभी ऑपरेशन फलदायक नहीं होते, उन्हें भी कई बार करना पड़ता है।

मन्त्र-साधना एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका जितनी गहराई से रहस्य समझा जाता है, जितना अधिक मनन चिन्तन किया जाता है उतना ही वह सफल होता है। अनेकानेक साधकों की अनुभूतियों की परिणति से मन्त्रों की अनेकता स्वाभाविक है, किन्तु इनमें किसी प्रकार की विसंगति अथवा अकल्याण की भावना न होकर विशुद्ध लोक कल्याण की मङ्गल भावना ही निहित है। एक दृष्टान्त इसके लिये स्मरण रखना चाहिये जो इस प्रकार है—

"एक बार किसी भक्त के घर एक स्वामी जी पधारे। भक्त ने उनका स्वागत सत्कार किया और उनसे प्रार्थना करते हुए कहा कि—

'महाराज ! कृपा करके कोई ऐसा मन्त्र बताइये कि जो संसार के सब दुःखों से मुक्ति दिला कर यहाँ सुखसमृद्धि प्रदान करे और मरने के पश्चात् मुक्ति प्रदान करे।"

स्वामीजी ने कृपा करके कहा—'सोऽहं' मन्त्र का जप करते रहो, सब अच्छा होगा। भक्त उनकी आज्ञानुसार साधना में लग गया।

कुछ समय बीतने पर एक अन्य स्वामीजी उसके घर पधारे। प्रासंगिक चर्चा में भक्त ने मन्त्रजाप की बात कही तो कुछ उपेक्षा-पूर्वक बोले—ठीक है, पर इसमें एक अक्षर और होता तो यह उत्तम मन्त्र बन जाता। भक्त ने जब उत्साहपूर्वक पूछा कि कैसा अक्षर आवश्यक है ? तो उन्होंने 'दा' जोड़कर 'दासोऽहं' मन्त्र जप का आदेश दिया।

जप चलता रहा। कुछ दिनों के पश्चात् पुनः पहले वाले स्वामीजी आये और उन्होंने जप की बात पूछी और जाना कि मन्त्र में परिवर्तन हुआ है तो उसके पहले एक अक्षर और जोड़ दो और वह है 'स' अर्थात् 'सदासोऽहं' का जप करते रहो ऐसी आज्ञा दी।'

इस प्रकार जप करते कुछ समय बीतने पर दूसरी बार आने वाले स्वामीजी पुनः आये और पिछली सब बात जानकर बोले—"तब तो एक अक्षर 'दा' और जोड़ कर जप करना ही श्रेयस्कर है।' अतः अब 'दासदासोऽहं' मन्त्र का जप किया करो।" भक्त ने भी निष्ठापूर्वक आदेश का पालन किया और जप करता रहा और उस पर भगवत्कृपा बनी रही।

इसका तात्पर्य यह है कि दोनों ही महात्माओं ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार भक्त को मन्त्रोपदेश दिया किन्तु मन्त्र-परिवर्तन में उनकी कल्याणभावना यथावत् थी। इसी प्रकार अनेक मन्त्र रहते हुए भी उनसे अकल्याण न होकर कल्याण ही होता है।

उपसंहार एवं निवेदन—

उपर्युक्त तथ्यों से यह समझा जा सकता है कि साधना का मार्ग कठिन है। किसी भी मन्त्र का सहसा निर्णय नहीं किया जा सकता। पूर्ण प्रक्रिया के परिचय की अज्ञानता अन्धकार में ढकेल सकती है तथा लोभी, अल्पज्ञ अथवा आडम्बर-प्रिय जनों के जाल में आने से सङ्कट के सिवा क्या मिलना सम्भव है ? यह सब सोचकर अपनी परम्परा और पूर्वजों के मार्ग को न छोड़ते हुए योग्य गुरु से श्रद्धा-विश्वास के साथ मन्त्र ग्रहण करें और 'एष निष्कण्टकः पन्था एष पन्थाः सनातनः' मानकर आगे बढ़ें। गुरुकृपा से सब दोष दूर होंगे। माँ गायत्री स्वयं सन्मार्ग दिखलावेगी और इहलोक मङ्गलमय बनेगा।

गायत्री वेदमाता सा,
सर्वकल्याण-कारिणी।
पठतां जपतां नृणां,
करोतु कुशलं सदा॥

—×○×—

श्री शिव ताण्डव स्तोत्रम्

[श्रीजगदीशशरण बिलगइयाँ 'मधुप' कवि-भूषण]

(१)

सघन चिकुर के वन विभाग से, गिरते सुरसरि के प्रवाह से।
पावन हुए गले में लटके, सर्पों के शुभ माल धरें।
डमरू के डम-डम शब्दों से, मण्डित ताण्डव जो करते।
वे शिव सदा हमारे शिव का, प्रतिपल ही विस्तार करें।

(२)

प्रबल वेग से घूम रही हैं, गंग तरंगावलि उत्ताल।
जटा कटाह रूप शोभित है, जिनमें शिव का पावन भाल।
धक-धक करके जलती रहती, जिनके शुभ ललाट की आग।
जिनके भाल बालशशि शोभित, बढ़े निरंतर मम अनुराग।

(३)

श्री गिरिराज किशोरी के शिर, भूषण से लख ककुभ प्रदीप्त।
जो विलास संविद् उपयोगी, जिनका मन आनन्द अतीत।
जिनकी नित करुणा कटाक्ष से, महा व्याधि सत्वर निवरे।
उन हरिताम्बर शिव सुतत्व से, मेरा मन आमोद भरे।

(४)

जटा जूट वर्ती सर्पों की, फण मणि का बिकसा पिंगल।
प्रभा पुंज दिग्रूप अंगनाओं, के मुख कुम कुम प्रलिप्त जल।

मत्तनाग के हिलते चमड़े के धारण से, जो स्निग्ध सुवर्ण करे।
उन ही भूतनाथ चरणों में, मेरा चित्त विनोद भरे।

(५)

चरण पादुकाओं में जिनके, इन्द्रादिक बुध करें प्रणाम।
उन सुर शिर सुमनों सुधूलिसे, हुई धूसरित परम ललाम।
नागराज के रम्य हार से, बँधी हुई जो जटा विशाल।
वही चन्द्रशेखर शिव मम हित, बनें अर्थ साधक सत्काल।

(६)

जिसने स्वीय त्रिनेत्र अनल से, कामदेव को भस्म किया।
जिन चरणों में मघवादिक पड़, इन्द्रासन का धाम लिया।
इन्दु कलान किरीट सुशोभित, भाल वही जग जो आराधक।
वो ही विशाल सुमाथ सदैव, बनें नित मेरी सुसम्पति साधक।

(७)

जिनके भाल पट्ट पर धक धक, करके जलती सदा अनल।
किया उसी से भस्म काम को, दिखा रहा था जो छलबल।
जो गिरिराज किशोरि वक्ष पर, पत्र रचयिता निपुण कहे।
उन भगवान त्रिलोचन में ही, मम सुधारणा लगी रहे।

(८)

नव सुमेघ माला से आवृत, अर्द्ध अमा सम घना तिमिर।
जिस सुकंठ में अंकित होकर, श्यामलता रहती सुस्थिर।
जो गजचर्म लपेटे तनु पर, सकल विश्व का भार धरें।
चन्द्रमौलि मनहर गंगाधर, मम धन नित विस्तार करें।

(९)

खिले हुये नीरज समूह, सी श्याम प्रभा औ,
मृग छवि चिह्न युक्त, शुभ कण्ठ गले।
काम, त्रिपुर, भव, दक्ष यज्ञ औ,
यम अन्धकरक, अहं भजे॥

(१०)

निरभिमान उन पार्वती का, कला रूप मकरंद निखरता।
बढ़ती हुई माधुरी के जो, 'मधुप' पान शुभ कर्ता।
मार त्रिपुर भव, दक्ष यज्ञ औ नागान्धक संहर्ता।
भजूं सदा मैं शिवशंकर को, चाह यही मन करता।

(११)

घूम रहे हैं प्रबल वेग से, जिनके मस्तक पर मणिधार।
फुफकारों की सबल वायु से धधक अनल करती विस्तार।
धिम-धिम बजते जिस मृदंग से, हो गम्भीर घोष मुदमय।
क्रमशः करें प्रचण्ड सुताण्डव हो उन शंकर की जय जय।

(१२)

सुन्दर शैया या पत्थर में, भुजग और हो मुक्ता माल।
बहु बहु मूल्य, रत्न या मिट्टी, शत्रुपक्ष या मित्र विशाल।
तृण, अथवा मृगलोचन तरुणी, प्रजा, धराधिप मैं समभाव,
रखकर कब मैं भजूं सदा शिव, ऐसा हो कब सरस स्वभाव,

(१३)

सुन्दर भाल चन्द्रशेखर में, बढ़े सदा मेरा अनुराग।
दृढ़ चित्त होऊं चरणों में, कुटिल विचारों से हो त्याग।

देव नदी के तट निकुंज में रहता हुआ करूं शुभवास।
विह्वल, सजल नयन कर जोड़े, जय शिव कब लेहौं सुख श्वास।

(१४)

जो मनुष्य इस सर्वोत्तम, स्तव का प्रतिदिन पाठ करें,
या स्मरण सुवर्णन करता शिव सुभक्ति मद प्राप्त करे।
इससे सदा शुद्ध वह रहता पा विरुद्ध गति से अवकाश।
क्योंकि सुचिन्तन भली भांति शिव करें प्राणि का मोह विनाश।

(१५)

संध्या समय प्रदोष काल में शिव शुभ पूजा के अवसान।
दश सिर द्वारा गेय गीत यह पढ़े सभक्ति सप्रेम पुमान।
गज रथ अश्व आदि से युत हो वह नर पाता विभव महान।
सदा सुस्थिर रहने वाली करें लक्ष्मी शम्भु प्रदान।

लक्ष्य-पथ की साधना में राम मेरा

—×०×—

सत्य की आराधना में राम मेरा, लक्ष्य-पथ की साधना में राम मेरा।
राम में आदर्श जीवन का छिपा है, राम में उत्कर्ष जीवन का छिपा है,
जो असद् के साथ लड़ता है निरन्तर, राम में संघर्ष जीवन का छिपा है।।
है शिवं की भावना में राम मेरा, लक्ष्य-पथ की साधना में राम मेरा।
राम गति की प्रेरणा जय की कहानी, राम मरुथल में सरसता की निशानी,
कंठ में अनहद, मनुज की अमरता है, राम दृढ़ विश्वास, पग की सावधानी।।
सुन्दरं की अर्चना में राम मेरा, लक्ष्य-पथ की साधना में राम मेरा।

—मिथलावती मिश्र

भोग-वासना कैसे समाप्त हो?

[श्री सुरेन्द्र बहादुर एम०ए० 'दर्शन-शास्त्र']

विवेक प्राप्त होने पर मनुष्य स्वयं को मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होता है और इसी प्रयत्न का नाम साधना है। मुक्ति प्राप्त होती है केवल स्थूल शरीर से ही नहीं वरन् सूक्ष्म एवं कारण शरीर से भी। हमारे सूक्ष्म और कारण शरीर संस्कारों और वासनाओं से भरे होते हैं। ये वासनायें हमने अपने लिए बना रखी हैं, अपने में आरोपित कर ली हैं, इसलिए वे हैं और इनके लिए ही ये तीनों शरीर हैं। अतः जब तक हम अपनी वासनाओं का, इच्छाओं का अथवा भोगाकांक्षाओं का आत्यंतिक विनाश नहीं कर लेते तब तक हम अपने इन तीनों शरीरों से मुक्त होकर स्वरूप में प्रतिष्ठित हो ही नहीं सकते। अतः मुक्ति के लिए किये गये हमारे प्रयत्नों में अथवा हमारी साधनाओं में हमारी वासनायें ही प्रधान अवरोध हैं। या दूसरे शब्दों में, इन वासनाओं के क्षय करने का उपक्रम ही साधना है। हमारी वासनायें ही हमें बार-बार जन्माती हैं, भोगों को भोगाती हैं और पुनः कुछ काल पश्चात् स्थूल शरीर को त्याग कर सूक्ष्म और कारण शरीर के साथ विदा हो जाती हैं। इन वासनाओं में एक अद्भुत शक्ति होती है जिसके कारण यह सूक्ष्म और कारण शरीर को पुनः पकड़ लाती है और एक नये स्थूल शरीर में अपनी तृप्ति का खेल प्रारम्भ कर देती है। यही जीवन-मरण का चक्र है। यही सारे क्लेशों का मूल है। हमें इसी चक्र से छूटना है। अब प्रश्न उठता है कि क्या हमें इन वासनाओं को बल पूर्वक दबा देना चाहिए? क्या विरोधी शक्ति लगा करके इनका दमन करना चाहिए? अथवा क्या इन्हें किसी सीधे उपाय से अभिभूत कर देना चाहिए।

फ्रायड कहता है कि अपनी इच्छाओं से लड़ो मत। वासनाओं को दबाओ मत नहीं

तो तुम्हारा अस्तित्व टूट जायगा, खण्ड-खण्ड हो जायगा। परिणामतः तुम भीतर से इतने दुर्बल एवं कमजोर हो जाओगे कि तुम कुछ भी नहीं कर सकोगे और अपना अस्तित्व ही खो दोगे। हम जब अपनी किसी वासना को या इच्छा को दबाते हैं तो हम स्वतः किस प्रकार कमजोर होते हैं इसको हम एक उदाहरण द्वारा समझाने की चेष्टा करेंगे। मान लीजिए हमने अपने एक हाथ को दूसरे हाथ से खूब जोर से दबाया और कुछ देर तक दबाये रखा तो हम देखेंगे कि हमारा दबाने वाला हाथ ही थक जाता है और फिर वह दबाने के लायक नहीं रह जाता। जिससे वह स्वतः दबाने की क्रिया बन्द कर देता है। हमारा जो हाथ दबा था उसकी शक्ति तो ज्यों की त्यों बनी है सिर्फ दबाने वाले हाथ की शक्ति समाप्त हो गयी है। अब जो हाथ पहले दबा था वह यदि कुछ करना चाहे तो दबाने वाला हाथ, जो अब बिल्कुल थक चुका है, उसको रोक नहीं पायेगा। ठीक इसी प्रकार जब हम अपनी किसी इच्छा अथवा वासना को दबाते हैं तो हम अपने ही अस्तित्व के एक भाग को दूसरे भाग से दबाते हैं। यह दबाव जब थककर ढीला हो जाता है तो हमारी वासनायें दुगुने-चौगुने जोर से उभड़ती हैं जिनको रोक पाना कठिन हो जाता है। ऐसी वासनायें ही अनर्थों की जननी होती हैं।

ऐसा क्यों होता है? इसका एक वैज्ञानिक कारण है। भोग की इच्छा एक अभाव से उत्पन्न होती है और भोग उस अभाव की पूर्ति के लिए होता है। उदाहरणार्थ, जब हमें प्यास लगती है तो हम पानी पी लेते हैं और प्यास बुझ जाती है। इस प्रक्रिया में प्यास का लगना हमारे भीतर पानी का अभाव सूचित करता है और पानी का पीना उस अभाव की पूर्ति करता है। इस पूर्ति के पश्चात् हमारी पिपासा शान्त हो जाती है। परन्तु यदि हम प्यास को न बुझावें और प्यासे ही रहते चले जायँ तो हम जीवित नहीं रह सकते और अपने वर्तमान जीवन की क्रियाओं को अधूरा ही छोड़कर इस संसार से विदा हो जायेंगे। अतः जिस प्रकार इस जीवन को चलाने के लिए प्यास लगने पर प्यास का बुझाना उचित है उसी प्रकार संसार सागर से तरने के लिए वासनाओं का सर्वथा तृप्त हो जाना अथवा आप्तकाम हो जाना आवश्यक है। अब यहाँ यह सवाल उठता है कि जिस प्रकार एक बार प्यास बुझा देने पर प्यास सदा के लिए नहीं बुझ जाती वरन् फिर-फिर लगती ही रहती है उसी प्रकार किसी वासना को एक बार तृप्त कर देने पर भी वह सर्वदा के लिए शान्त नहीं हो जाती वरन् बार-बार जगती ही रहती है तो इस प्रकार की तृप्ति से हमें कौन सा लाभ होगा? हम तो वासनाओं की भूख तथा उनकी शान्ति के चक्कर में पड़े ही रह जायेंगे और

इस प्रकार उनसे बचने का यह कोई युक्तियुक्त मार्ग प्रतीत नहीं होता ।

किसी भी रोग की उपयुक्त चिकित्सा तब तक नहीं की जा सकती जब तक हमें उसका यथार्थ परिचय नहीं मिल जाता । जिस रोग का निदान ठीक हो जाता है उसकी चिकित्सा भी ठीक ढंग से हो सकती है । वास्तव में हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारे जन्म-मरण के चक्र को चलाने में हमारी भोग-वासनाओं का ही प्रमुख हाथ है । हमारी वासनाएँ अथवा भोगाकांक्षाएँ ही वास्तविक भव-रोग हैं । अतः इन्हीं को मिटाना हमारा मुख्य कार्य होना चाहिए ।

सत्य और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी नहीं है । जो सत्य है वह विज्ञान है और जो विज्ञान है वह सत्य है । यदि वासनाएँ हैं तो उनका भी एक विज्ञान होगा । हमारी वासनाएँ प्यास की भाँति हैं जो जल माँगती हैं । प्यास अग्नि है और जल रस है । अग्नि की तृप्ति रस से ही हो सकती है । अग्नि और रस दोनों एक ही तत्व के दो पहलू हैं । जिस कारण से मूल प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न होकर जगत् की सृष्टि हुई उसी कारण से अग्नि और रस जो मूल रूप से एक ही थे अलग हुए । यह अलगाव स्वाभाविक नहीं वरन् कृत्रिम है । अतः स्वभाव वश वे पुनः एक होना चाहते हैं । इसीलिए अग्नि जल की तरफ जाना चाहती है और जल अग्नि की तरफ जाना चाहता है । अग्नि का जल की चाहना वासना है । जल योग्य विषय है जिससे वह तृप्त होती है । अग्नि और जल दोनों बार-बार एक होने की चेष्टा करते हैं और इस चेष्टा में वे सफल भी होते हैं किन्तु अस्थायी रूप से, स्थायी रूप से नहीं । इस अस्थायित्व में कौन सा कारण काम कर रहा है इसे भी समझ लेना अप्रासंगिक न होगा । तृप्ति के अस्थायी होने में मुख्य कारण यह है कि न तो भोक्ता ही विशुद्ध है और न भोग्य ही विशुद्ध है । इसे हम फिर जल के उदाहरण से समझाने की चेष्टा करेंगे । प्यास लगने पर जब हम पानी पीते हैं तो हमारे प्यास की तृप्ति उस सारे जल से नहीं होती जो हम पीते हैं वरन् रस के केवल एक कण से ही होती है जो उस जल में निहित रहती है । यदि वही रस किसी प्रकार हम शुद्ध रूप में प्राप्त कर लें तो प्यास सर्वदा के लिए बुझ जायगी, अर्थात् हम प्यास पर विजय प्राप्त कर लेंगे । ठीक यही हाल संसार के अन्य भोग्य पदार्थों का भी है । वे हमें कभी शुद्ध रूप में प्राप्त नहीं होते क्योंकि अन्य बहुत से विजातीय तत्व उनमें मिले रहते हैं । अतः वे हमारी वासनाओं की आत्यन्तिक तृप्ति, अर्थात् सर्वदा के लिए तृप्ति नहीं कर पाते ।

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि यदि आग को बुझाना है तो उस पर पानी डालना पड़ेगा । इसी प्रकार यदि वासनाओं को शान्त करना

है तो भोग भोगना ही पड़ेगा फलतः संसार का बन्धन बना ही रहेगा और मुक्ति हमसे सदा दूर रहेगी। तब फिर प्रश्न उठता है हम किस प्रकार उस रस को पालें जो प्यास को शाश्वत तृप्ति प्रदान करे। अर्थात् हम किस प्रकार उन विशुद्ध भोगों को प्राप्त कर लें कि हमारी वासनाएँ शाश्वत तृप्ति प्राप्त करके सर्वदा के लिए शान्त हो जायें, क्योंकि अतृप्त वासना वाला चित्त संसार-सागर से नहीं तर सकता। इसके लिए हम शास्त्र के आधार पर तीन उपायों पर विचार करेंगे।

पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि अशुद्ध भोग-भोगने से भोग वासना बढ़ती ही चली जाती है और शुद्ध भोग भोगने से भोग वासना क्रमशः क्षीण होती चली जाती है। मनुष्य का शरीर रूपी यंत्र इस प्रकार से बना है कि जब हम अशुद्ध भोग भोगते हैं तब हमारे शरीर के विभिन्न यन्त्र उससे शुद्ध रस निकालकर आनन्दमय कोश में स्थित जीवात्मा के लिए भेज देते हैं, किन्तु इसके पहले नीचे के कोश अपने-अपने लिए उपयोगी रस खींच लेते हैं और उससे पुष्ट होते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि शुद्ध रस आनन्दमय कोश तक बहुत ही अल्प मात्रा में पहुँच पाता है। फलतः भोग-वासना अतृप्त रह जाती है जिसके परिणाम स्वरूप उसकी निवृत्ति नहीं हो पाती। अतः भोग भोगने के लिए एक कौशल की आवश्यकता है। इस कौशल के अभाव में भोग बन्धन का कारण बन जाता है और इस कौशल की उपस्थिति में भोग मुक्ति का साधन बन जाता है। यदि हम योग क्रिया के द्वारा अग्नि और सोम (रस) का मिलन करा दें तो हमारे चित्त में स्थित वासना शुद्ध भोग को ग्रहण करके तृप्त हो जाती है और सर्वदा के लिए शान्त होकर साम्य-भाव धारण कर लेती है। योग क्रिया के द्वारा हमें भोक्ता को भी शुद्ध करना पड़ेगा क्योंकि केवल शुद्ध भोक्ता ही शुद्ध भोग को प्राप्त कर सकता है। किन्तु इस स्तर तक की योग्यता तभी आ सकती है जब कि हम सम्प्रज्ञात योग की अन्तिम समाधि, अर्थात्, अस्मितानुगत समाधि तक पहुँच जायें या कुण्डलिनी शक्ति को आज्ञा-चक्र पहुँचा दें। ऐसी योग्यता वाला योगी तत्त्व विजयी कहलाता है। एक तत्त्व-विजयी योगी प्रकृति के सारे तत्त्वों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है जिसके परिणाम-स्वरूप वह प्रकृति से ही सीधे और शुद्ध रूप में भोजन, जल इत्यादि प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि वह स्थूल रूप से कुछ भी न खाते-पीते हुए भी स्वस्थ एवं सुपुष्ट बना रहता है।

भोग-वासनाओं को क्षीण करने का दूसरा उपाय यह है कि हम अपनी वासनाओं के तथा भोग काल में भोगी के द्रष्टा बन जायें—एक तटस्थ द्रष्टा। यदि हम अपनी अथवा दूसरों

के तटस्थ द्रष्टा अथवा साक्षी बन जायें तो हम आश्चर्यचकित रह जायेंगे यह देखकर कि ये वासनाएं अथवा उद्वेग विषय की उपस्थिति में भी मन को उस प्रकार अभिभूत नहीं कर पाते जिस प्रकार पहले करते थे। उदाहरण के के लिए, मान लीजिए कि आपको क्रोध आ गया तो आप उस क्रोध को रोकने की चेष्टा न करके सिर्फ अपने को एक तटस्थ एवं मूक दर्शक बना लीजिए। अब आप देखिए उस क्रोध करने वाले को और क्रोध की स्थिति को आप दंग रह जायेंगे यह देखकर कि वह क्रोध विदा हो गया है और क्रोध करने वाला मन अपनी क्षुद्रता को महसूस करके पश्चात्ताप कर रहा है। जब-जब आपको क्रोध आये आप यही कीजिए तो आप पायेंगे कि आपका क्रोध दिन पर दिन कम होता चला जायेगा और एक दिन ऐसा शीघ्र ही आ जायेगा जब कि आप पूर्ण रूप से अक्रोधी हो जायेंगे। ऐसा ही प्रयोग सभी वासनाओं के साथ किया जा सकता है। इस उपाय में अन्तर्निहित सिद्धान्त यह है कि आप शुद्ध चिन्मय आत्मा हैं। आप शरीर मन, बुद्धि इत्यादि प्रकृति के विकारों से अलिप्त हैं और इनकी क्रियाओं के द्रष्टा मात्र हैं। आपने अज्ञान वश इन सभी विकारों और क्रियाओं को स्वतः में आरोपित कर लिया जिसके कारण यह सारा झमेला खड़ा हो गया है। यदि कोई मनुष्य आत्माकार वृत्ति धारण करने का अथवा साक्षीभाव का अभ्यास करे तो वह अपनी वासनाओं पर शीघ्र ही विजय प्राप्त कर लेगा। श्री गुरुदेव जी कहा करते हैं कि तुम प्रातः से सायं तक आत्माकार वृत्ति बनाये रखकर तो देखो तुम्हारे जीवन में चमत्कार का प्रादुर्भाव हो जायगा।

तीसरा उपाय ईशावास्योपनिषद का है। इस उपनिषद का पहला मंत्र है:—

ईशावास्यमिदंसर्वं,
यत्किंचजगत्याम् जगत्।
तेनत्यक्तेन भुंजीथा,
मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् "यह संसार ईश्वर का आवास है। इसे त्याग पूर्वक भोगो। किसी दूसरे के धन का लोभ मत करो।" हमें अपनी वासनाओं अथवा भोगाकांक्षाओं पर विजय प्राप्त करने में इस उपाय से बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। साधक को चाहिए कि वह इस संसार को तथा इस संसार में उसे जो कुछ भी उपलब्ध हुआ है उसे अपना नहीं वरन् ईश्वर का माने। वह यह मान ले कि घर द्वार स्त्री, पुत्र, धन-दौलत, मान-प्रतिष्ठा, विद्या-बुद्धि जो कुछ उसे प्राप्त हुआ है उसका मालिक वह नहीं है वरन परमात्मा है वह सिर्फ उन सबकी देख रेख करने के लिए नियुक्त किया गया एक सेवक है जो इन सबके प्रति अपने कर्तव्यों को निभाने के लिए उस परमात्मा के

समता उत्तर दायी है। ऐसा मानकर जो व्यक्ति जीवन यापन करता है वह संसार की किसी भी वस्तु से आसक्त नहीं होता क्योंकि उसका किसी भी वस्तु में ममत्व नहीं होता। इस आसक्ति-शून्यता के परिणाम स्वरूप उसकी सारी वासनायें स्वतः सर्वदा के लिए समाप्त हो जाती हैं। ऐसे मनुष्य का कोई भी कर्म उसके लिए बन्धनकारक नहीं होता। इस सन्दर्भ में श्री गुरुदेव जी ने एक बार एक उदाहरण देकर समझाया था जो इस प्रकार है:— एक क्लर्क है। वह किसी आफिस में दिन में कार्य करता है। एक रात को उस आफिस में आग लग जाती है और कागज-पत्र जल जाते हैं। इस समाचार को सुनकर वह क्लर्क जरा भी दुखी नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि न तो वह आफिस ही उसका है और न वे कागज-पत्र ही उसके हैं। वह सिर्फ एक नौकर है जो एक निश्चित समय तक प्रतिदिन काम करने के लिए नियुक्त किया गया है। वह पहले भी एक निश्चित समय तक ही काम करता था अब भी उसी प्रकार करेगा। हम लोग भी इस संसार रूपी दफ्तर के क्लर्क हैं। हमें इसमें सेवा कार्य के लिए एक निश्चित अवधि (आयु) प्राप्त हुई है। अतः हमें कर्त्तव्य बुद्धि से सारे विहित कामों को करते चले जाना। न तो किसी संयोग से सुखी होना है और न किसी वियोग से दुखी होना है क्योंकि यहाँ हमारा अपना कुछ भी नहीं है। अपना मान लेना ही तो सारे दुःखों की जड़ है। किसी के घर में आग लगी हो और उस घर का बूढ़ा मालिक खूब रोता चिल्लाता हो उसी समय कोई आकर उससे कह दे कि अरे तुम क्यों पागल की तरह रोते-चिल्लाते हो। यह मकान तो कल ही तुम्हारे बेटे ने बेचकर पैसे ले लिए हैं। उस बुड्ढे का रोना-चीखना तत्काल बन्द हो जायेगा और वह भी उस मकान का जलना उसी प्रकार देखेगा जैसे अन्य लोग देखते हैं। अब वह उस घर का मालिक नहीं रह गया। वह तो अब दर्शकों की भीड़ में एक दर्शक हो गया। तो इस प्रकार हम देखते हैं कि ममत्व ही सारे अनर्थों की जड़ है जो इस तीसरे उपाय से उन्मूलित हो सकता है।

—×॥×—

तन को जोगी सब करैं, मन को बिरला कोइ।
सब विधि सहजै पाइए, जो मन जोगी होइ॥

प्राणायाम की विधि-प्रकार-फल

[श्री हीरालाल शास्त्री]

[श्री शास्त्री जी का यह लेख उनके अन्य पूर्व प्रकाशित लेखों के समान शास्त्रीय प्रमाणों पर आधारित है। आशा है योग मार्ग के साधकों को यह समुचित मार्ग दर्शन देगा।—सं० सम्पादक]

योग साधना के लिये यम, नियम, आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा ध्यान समाधि इस प्रकार योग के आठ अंग महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में बतलाये हैं।

प्राणायाम —

पूरक, कुम्भक, रेचक इन तीनों से प्राण का जो संयम होता है उसे प्राणायाम कहते हैं। वायु को इडा नाडी से खींचकर उदर में भरने को पूरक कहते हैं और शक्ति अनुसार उसे रोकने का नाम कुम्भक है और पिङ्गला नाडी से धीरे-धीरे बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। इसी प्रकार पिङ्गला नाडी से वायु खींचकर उदर में भरे और पहिले की भांति यथाशक्ति उसे रोके जिसमें प्रायः योगियों का नियम १६ मात्रा भरने में और ६४ मात्रा रोकने में ३२ मात्रा निकालने में समय साधारणतया बतलाया गया है अर्थात् रोकने में ६४ मात्रा का ध्यान रक्खे फिर ३२ मात्रा में शनैः शनैः निकाले। यह प्राणायाम का साधारण नियम है, इसीलिये योगियों के आदि गुरु भगवान् शिवजी ने पूरक, कुम्भक, रेचक शब्दों से इनका नामकरण संस्कार किया है बुद्धि और मन की एकाग्रता से यह तीनों क्रियायें साधक को आरम्भ से करनी चाहिये तब ही प्राणायाम की परीक्षा जो बनाई गई है पूरी होती है, अर्थात् सर्व प्रथम प्राणायाम प्रस्वेद-जनक होता है यानी तन्मय होकर जो किया जाता है उसमें पसीना निकलता है यह अधम प्राणायाम माना गया है इससे अधिक तन्मय होने पर शरीर में कम्पन होता है यह मध्यम प्राणायाम है। और इससे भी उत्कृष्ट प्राणायाम होने पर शरीर ऊपर को उठता हुआ मालूम पड़े यह उत्तम प्राणायाम कहा गया है। जब तक उत्थान कारक प्राणायाम सिद्ध न हो जाय तब तक पूर्वोक्त दोनों प्राणायामों का अभ्यास करता रहे पुनः उत्तम प्राणायाम सिद्ध होने पर निष्काम साधक मुक्त हो जाता है। प्राणायाम से चित्त शुद्ध हो जाता है और विशुद्ध चित्त में अन्तः प्रकाश स्वरूप शुद्ध आत्म तत्त्व का साक्षात्कार होने लगता है। प्राणायाम में संलग्न रहने वाले साधक का चित्त प्राण के साथ संयुक्त होकर परमात्मा में स्थिर हो

जाता है और उसका शरीर कुछ-कुछ ऊपर को उठने लगता है इससे ज्ञान होकर मोक्ष को प्राप्त होता है फिर धीरे-धीरे पूरक और रेचक दोनों को छोड़कर कुम्भक का ही नित्य अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार करने वाला योगी सब पापों से मुक्त होकर उत्तम ज्ञान को प्राप्त होता है वह मन के समान वेगवान होकर मन पर विजय प्राप्त कर लेता है उसके शरीर में आलस्य का अभाव होना और शुचिता पहुंचना सभी रोग दूर हो जाते हैं प्राणायाम में अनन्य निष्ठा रखने वाले पुरुष के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है इसीलिये पूर्ण प्रयत्न करके प्राणायामों का अभ्यास करे। इसीलिये महाराज पतञ्जलि ने

"बाह्याभ्यन्तर स्तम्भ वृत्तिर्देशकाल संख्याभि परिदृष्टो दीर्घः सूक्ष्मः।"

अर्थात् :—

बाह्यवृत्तिः रेचकः अभ्यन्तर वृत्तिः पूरकः तथा रेचक पूरणाभ्यां बिना केवल विधारक प्रयत्नेन गतिविच्छेदः स च कुम्भकः तथा बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः अयं तुरीयः प्राणायामः।

इतिमणिप्रभा –

इस प्रकार प्राणायाम किया चार प्रकार की शास्त्रकारों ने बतलाई है। इसी आधार पर उस चतुर्विध प्राणायाम का फल 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' यह महाराज पतञ्जलि का सूत्र है।

अर्थात् प्राणायामाभ्यासात् प्रकाश—

शीलस्य बुद्धि सत्वस्य पिधानं, क्लेश पाप रूपं क्षीयते इति मणिप्रभा।

तदुक्तं मनुना सर्वेऽपि प्राणायामं देहइन्द्रोयात। धारणासु च योग्यता मनसः इति पतञ्जलि। अर्थात् प्राणायामादा-करण अयं तति मनसः सूक्ष्म तस्य धारणासु योग्यताभवतीत्यर्थः।

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से नाड़ी गण शुद्ध होते हैं।

हठ दीपिका—

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं
भूयोऽन्यथा रेचयेत्।
पीत्वा पिङ्गलया समीरण-
मथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन,
विधिनाभ्यासं सदा तन्वताम्।
शुद्धा नाडिगणाः भवन्ति,
यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥

इस प्रकार नाड़ी शुद्धि प्राणायाम के अभ्यास से योग साधना सम्पन्न हो सकती है—

इसीलिये प्राणायाम सिद्धि प्राप्त हठयोग दीपिका में पूर्वोक्त कथनानुसार कहा गया है—

हठयोगदीपिका—

कनीयसि भवेत् स्वेदः,
कम्पोभवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थान माप्नोति,
ततो वायुं निबन्धयेत् ॥

प्राणायाम का योग साधन में इतना महत्त्व इसीलिये बतलाया है जो कि यम, नियम, आसन तीनों के सिद्ध होने पर प्राणायाम की सिद्धि बतलाई गई है। इसी कारण प्रतिदिन बार बार अभ्यास करने का विधान है जैसे कि—

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्ध
रात्रे च कुम्भकान् ।
शनैर शीति पर्यन्तं,
चतुर्वारं समभ्यसेत् ।

उसका ही यह फल है—

प्राणायामादि युक्तेन,
सर्वरोग क्षयोभवेत् ।
अयुक्ताभ्यास योगेन,
सर्व रोग समुद्भवः ।

रोग भी बतलाये हैं

हिक्का श्वासश्च कासश्च,
शिरः कर्णाक्षिवेदनाः ।
भवंति विविधा रोगाः,
पवनस्य प्रकोपतः ।

इन रोगों से बचने के लिये उसका प्रकार भी बतलाया गया है।

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं,
युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीया ,
देवसिद्धिमवाप्नुयात् ।

भगवान का वाक्य गीता में—

युक्ताहार विहारस्य,
युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःख हा ॥

आसन सिद्धि होने पर प्राणायाम ध्यान आदि के लिये यह उपनिषद वाक्य है—

समे शुचौ शर्करावन्हि वालुका
विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले नतु चक्षुपीडने
गुहानिवाता श्रयणे प्रयोजयेत् ।

अर्थात् समतल भूमि सब प्रकार पवित्र, कूड़ा कर्कट, बालू, कंकरियों से रहित जहाँ पर सब प्रकार शान्त स्थान हो किसी प्रकार का कोलाहल न हो आवश्यकतानुसार जलादि की प्राप्ति तो हो परन्तु जलाशय, तालाब बावड़ी आदि जहाँ लोगों के आने जाने का स्थान न हो और ऐसा स्थान जैसे धर्मशाला तथा लोगों के ठहरने का स्थान न हो अर्थात् सभी प्रकार शान्त वातावरण मन के अनुकूल चक्षुओं को सुखकर गुफा आदि हो तो सुन्दर है ऐसे स्थान पर अभ्यास करना उत्तम होगा।

अभ्यास करते-करते जब शरीर में हल्कापन स्वस्थता, उज्ज्वलता, स्वर, सौन्दर्य, शुभ गन्ध मूत्र पुरीष की अल्पता, चित्त का अपने ध्यान से इधर-उधर न हटना और रोग रहित हो तब प्राणायाम सिद्धि समझे साधना में प्राणायाम के अभ्यासी साधक के लिये प्राणायाम सिद्धि होने पर संसार में कुछ दुर्लभ नहीं है।

रोग निवारण—

दोनों सन्ध्याओं के समय या ब्राह्म वेला में मध्यान्ह के समय सदा आदर से वायु को भीतर खींचकर उदर में अग्नि तथा उदर, नासिका के अग्रभाग, नाभि के मध्य भाग और पैर के अंगूठे में वायु के धारण करने से मनुष्य सब रोगों से मुक्त हो जाता है तथा सौ वर्ष की आयु पाता है, नासिका के अग्रभाग में भी प्राण के धारण करने से प्राण वायु पर विजय प्राप्त करता है नासिका के मध्य भाग में धारण करने से समस्त रोगों का निवारण होता है पैर के अंगूठे में वायु को रोकने से शरीर में हल्कापन आता है तथा जो साधक जिह्वा के द्वारा वायु खींचकर उसे पीता रहता है उसे थकान से मुक्ति और जलन दूर होकर निरोगता होती है। जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर उसे जिह्वा के मूल भाग में ही रोककर शान्त भाव से भावना द्वारा अमृत पान करने से सब प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं तथा जो इस द्वारा वायु को खींचकर भौंहों के बीच धारण करता है और भावना द्वारा विशुद्ध अमृत पान करता है वह सभी रोगों से मुक्त होकर परम स्वस्थ होकर जीता है और दोनों नासिका छिद्रों से वायु खींचकर नेत्रों में धारण करता है तो नेत्रों के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार जो कानों में धारण करता है उस कान के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और मस्तक में धारण करे तो सिर के सब रोग दूर होते हैं। प्राण को ब्रह्म रन्ध्र में प्रवेश करने के लिये दोनों अंगूठों से दोनों कानों की तर्जनियों से दोनों नेत्रों को मध्यमाओं से दोनों नासिका छिद्रों को तथा अनामिका कनिष्ठिकाओं से मुख को आच्छादित करके वायु को तब तक मस्तक में धारण किये रहे जब तक आनन्द मय अमृत का आविर्भाव न हो जाय। इस प्रकार अभ्यास करने से प्राण ब्रह्म रन्ध्र में प्रवेश कर जाता है इसकी पहिचान यह है कि उसमें पहिले ब्रह्म रन्ध्र में शंख ध्वनि के समान शब्द होने लगता है फिर मेघ की गर्जना के समान शब्द होता है फिर जब वायु मस्तक के मध्य भली भांति स्थिरता को प्राप्त कर लेता है उस समय पर्वत से गिरते हुये झरने के समान शब्द होने लगता है। इस प्रकार के अभ्यास में अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हुए साधक आत्मा के सम्मुख हो जाता है। उस दशा में आत्म तत्व का ज्ञान भली प्रकार होकर संसार बन्धन का नाश हो जाता है आत्म स्वरूप को भली-भाँति ज्ञान होने पर अज्ञान का मूलतः नाश हो जाता है

इसी आधार पर 'हठयोग दीपिका' में नाद श्रवण के लिये ग्रन्थकार ने सुन्दर उपाय बतलाया है :—

श्रवण पुटनयन युगल घ्राण,
मुखानां निरोधनं कार्यम् ।
शुद्ध सुषुम्ना सरणौ स्फुट,
ममलः श्रूयते नादः ॥

इस प्रकार अज्ञान का पूर्णतया नाश होने पर राग आदि नहीं रहते हैं और जब राग आदि नहीं रहते तब पाप पुण्य रह ही नहीं सकते हैं यह पतञ्जलि महाराज ने योगी के लिये विशेषता बतलाई है :

योगी के कर्म

कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनास्त्रिविध-मितरेषाम् ।

अर्थात् योगी के कर्म अशुक्ला कृष्ण अर्थात् पुण्य पाप से रहित होते हैं और अन्य मनुष्यों के वही तीन प्रकार के शुक्ल (पुण्य) कृष्ण (पाप) शुक्ल कृष्ण (पुण्य-पाप) मिश्रित होते है जिनमें पुण्य भोग के लिये स्वर्गादि प्राप्त होते हैं और पाप भोग के लिये नरकादि शूकर कूकर योनियें प्राप्त होती हैं तथा मिश्रित में कर्मानुसार पुरुष स्त्री आदि की योनि मिलती है और योगी के लिये जब वह पुण्य-पाप दोनों से रहित हो जाता है फिर कर्मवासना शून्य होने से कैवल मोक्ष प्राप्त करता है अर्थात् उसे शरीर धारण नहीं करना पड़ता है ।

इसी कारण भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि —

क्लेश मूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

अर्थात् जब तक कर्म बन्धन क्षीण नहीं होता है तब तक संसार में जन्म होना अनिवार्य है और जन्म होने पर तदनुसार ही जाति, आयु, भोग अवश्य प्राप्त होंगे तदनुसार सुख दुःख का भी अनुभव करना प्रत्येक प्राणी को अनिवार्य होगा ।

इसी कारण पतञ्जलि महाराज ने आगे घोषणा की है कि—

ततः कृतार्थानां परिणाम क्रम समाप्तिर्गुणानाम् ।

और जब गुणों की परिसमाप्ति हो जायगी तब जन्म आदि का कोई प्रश्न ही नहीं रहता उस दशा में मुक्ति अर्थात् संसार बन्धन से मोक्ष होना अवश्यम्भावी है । इसीलिये विद्वानों (योगियों) का मत है कि —

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

अतःएव मोक्ष जो कि संसारी मनुष्य सभी चाहते रहते हैं और नहीं मिलती है वह कठिन और दुष्कर है । भगवान श्रीराम जी का वचन है कि—

वासनाक्षय विज्ञान,
मनोनाशः महत्सुत ।
समकाल समभ्यस्ताः,
भवन्ति फलदा, मताः ।

यदि इस अभ्यास से आपको प्रसन्नता और लाभ हुआ तो फिर कभी योग की अन्य विशेषतायें सेवा में लिखूंगा ।

—××—

साधना

[श्री ब्रह्मचारी लालदास शर्मा]

किसी साध्य वस्तु की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं उसे साधना कहते हैं, या साधक और साध्य के मध्य जो दूरी है उसे साधना नाम से कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ पर साधना से हमारा मतलब है अपनी स्थिति और शक्ति के अनुसार भगवत् प्राप्ति के लिए जो पुरुषार्थ किये जाते हैं। जगत् के सभी जीव कीटाणु से लेकर ब्रह्मा तक सब सुख प्राप्ति की इच्छा करते हैं। ऐसा सुख जो सब से बढ़कर हो, अनन्त हो, असीम हो, नित्य हो और पूर्ण हो। परन्तु ऐसा सुख इस विनाशी और क्षणभंगुर संसार की किसी वस्तु में नहीं। यहाँ पर अनन्त, असीम, अखंड, नित्य और पूर्ण सुख-राशि तो एक मात्र प्रभु ही है।

साधना दो प्रकार की होती है। लौकिक और अलौकिक। किसी सांसारिक वस्तु या इच्छा की पूर्ति के लिए निरन्तर किया जाने वाला प्रयत्न लौकिक साधना है। जो आध्यात्मिक या मानसिक साधनाओं से सम्बन्धित हो और जो मुख्यतः योग साधना से अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त करके मुक्ति प्राप्ति के लिए की जाती है, उसे अलौकिक साधना कहते हैं।

साध्य तक पहुँचने के लिए साधक के लिए सबसे पहली और आवश्यक बात यह है कि वह किसी सिद्ध गुरु का पूर्ण रूप से वरण करे। बिना सद्गुरु के योग मार्ग पर चलना उसी तरह है जिस तरह कि बिना पतवार की नाव। लेकिन सद्गुरु की शरण लेने पर ही साधक का काम समाप्त नहीं हो जाता। सद्गुरु के शरण में रहकर यम-नियमों का पालन करते हुये त्याग, वैराग्य और पवित्रता के साथ दृढ़ता पूर्वक साधना में लग जाना चाहिए। सद्गुरुदेव की आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करने वाले और उन्हें प्रसन्न रखने वाले, हर समय अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को गुरुदेव के चरणों में लगाकर सेवा करने वाले तो वस्तुतः धन्य ही है। यह तो उनकी सर्वोत्कृष्ट साधना है। पर इस प्रकार की सेवा कोई ही कर सकता है क्योंकि इस प्रकार की साधना बहुत कठिन है। इस विषय में कहा गया है—

"सेवा धर्मः परम गहनो,
योगि नामप्यगम्यः"।

सेवा धर्म बड़ा कठिन है उसे योगी लोग

भी नहीं जान सकते। अपने दिव्य दृष्टि के दाता सद्गुरुदेव के इच्छाओं का अनुसरण करने वालों को उनकी कृपा से स्वतः ही सफल सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। सद्गुरुदेव के आज्ञा पालन से परम कल्याण हो इसमें तो कहना ही क्या, उनका तो दर्शन, स्पर्श और चिन्तन भी परम कल्याण का कारण होता है। देवर्षि नारदजी कहते हैं—

"महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च"

महान पुरुषों का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।

साधक को अपने साध्य (इष्ट देव) की प्राप्ति के लिए तीव्र अभिलाषा होनी चाहिए। यह तीव्र अभिलाषा कितनी होनी चाहिए इस संदर्भ में छोटा सा प्रसंग प्रस्तुत करता हूँ :—

एक बार किसी शिष्य ने अपने गुरुदेव से कहा कि—"महाराज ! भगवान की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ?" गुरुजी ने कहा, "कुछ समय बाद बताऊँगा"। दोनों नदी में स्नान करने चले गये। जब शिष्य स्नान करने के लिए नदी के मध्य पहुँचा तो गुरु जी ने उसके सिर पर जोर से पैर रखकर पानी के नीचे दबा दिया। कुछ ही पलों में शिष्य घबड़ा-कर छटपटाने लगा। अन्त में कुछ समय पश्चात् बहुत प्रयत्न के फलस्वरूप पानी के बाहर निकल सका। उस समय उससे गुरुजी ने पूछा, 'जिस समय तुम पानी में डूबे जाते थे, तुम्हारे हृदय में क्या विचार आते थे ?" शिष्य ने उत्तर दिया 'मेरे हृदय में केवल पानी से ऊपर निकलने की इच्छा थी इसीलिए मैं तड़प रहा था, मुझे किसी वस्तु या बात का जरा भी ध्यान न था।" गुरुजी ने कहा—"बस, जब इस प्रकार की उत्कट् अभिलाषा और छटपटाहट भगवान की प्राप्ति के लिए होती है तभी भगवान की प्राप्ति होती है।

साधक के लिए संसारिक सारी क्रियाएँ सारी घटनायें या इच्छायें शून्य हो जानी चाहिए। उसके सम्मुख अपने इष्ट के अति-रिक्त किसी भी वस्तु का ध्यान नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार लक्ष्य तभी बेधा जा सकता है जब तीर चलाने वाला का तीर और लक्ष्य एक सीध में हो। इसी प्रकार साधक का साधना और साध्य में भी एक वृत्ति का होना अति आवश्यक है।

योग साधना का अन्तरङ्ग धारणा से शुरू होता है। 'देश बन्धश्चित्तस्य धारणा' चित्त का वृत्ति मात्र से किसी स्थान विशेष में बन्धना धारणा कहलाती है। जिस स्थान पर वृत्ति को ठहराया जाये वह नाभि, हृदय कमल, नासिका का अग्रभाग, भृकुटी, ब्रह्म रन्ध्र आदि आध्यात्मिक स्थान विशेष हो। इसी को ध्येय कहते हैं जहां ध्यान लगाया जाये। धारणा के बाद ध्यान की बारी आती है। जब किसी निर्धारित स्थान पर देर तक लगातार चित्त ठहरा रहे उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान की भी

दो अवस्थायें हैं। पहली अवस्था में साधक इष्ट का ध्यान करता है। इस पहली अवस्था में अभी तक सूक्ष्म रूप से साधक के मन में सांसारिक भावनायें होती हैं। जब साधक इष्ट का ध्यान करने लगता है तो झट संसार की भावनायें सामने आ जाती हैं। यह इसलिए होता है कि जब हम सांसारिक भावनाओं या इच्छाओं को दबाना चाहते हैं तो वह अपने पूरे बल से हमारे मार्ग में बाधा डालती हैं। परन्तु हमारे बार-बार प्रयत्न के फलस्वरूप शनैः शनैः यह भावनायें शान्त हो जाती हैं।

ध्यान की दूसरी अवस्था यह है कि साधक के अन्दर बैठा हुआ इष्ट अपना ध्यान करवाता है। यही तो ध्यान है। जब पतंगे ने दीपक को देख लिया तो दीपक उसके अन्दर आ गया। हमें मालूम होता है कि पतङ्ग दीपक की ओर दौड़ता है पर यथार्थ में दीपक पतङ्गे में बैठकर अपनी ओर आप भागता है। दीपक उसके अन्दर ही अन्दर बैठकर जलाता है और बाह्य आकार को अपने अन्दर खींच कर भस्म कर देता है।

जब ध्यान की अवस्था इतनी हो जावे कि साधक को इष्ट के अतिरिक्त किसी की भी सुध-बुध न रहे और अपने इष्ट की ही लीलाओं का अवलोकन करता रहे यही समाधि है।

साधना गोपनीय वस्तु है यही गुरुदेव जी की आज्ञा भी होती है। कहा भी है :

गोपनीयं गोपनीयं,
गोपनीयं प्रयत्नतः।
त्वयापि गोपितव्यं हि,
न देयं यस्य कस्यचित्॥

इत्यादि शब्दों से साधना को प्रकट करने का निषेध किया गया है। गीता में भी भगवान ने उसे 'गुह्य' शब्द से प्रकट किया है।

साधना को गुप्त रखने का कारण यह है कि जब साधक की साधना का जन साधारण को पता लग जावे तो साधक का जन साधारण में यश फैलने लगता है साधना के प्रकट होने पर साधक को जितना यश मिलता है उतनी ही मात्रा में वह साधना को कम कर देता है। तत्पश्चात् साधक के पास लोगों की भीड़ भी जमनी शुरू हो जाएगी और साधक के साधना में विघ्न पड़ जायेगा। वह अपने साध्य को भूल भी सकता है और उसका पतन हो सकता है। इसीलिए साधकों को साधना बहुत ही गुप्त रखनी चाहिए। इसीलिए भगवान ईसा ने अपने अनुयायियों से कहा था "अपने बांये हाथ को यह न जानने दो कि दाहिना हाथ क्या पुण्य कर रहा है ?" साधना करते हुए साधक को अत्यन्त मधुर और विचित्र दृश्य सामने आते हैं। यदि साधक उन्हें गुप्त रखे तो साधना अबाध गति से चलती रहती है परन्तु किसी अनधिकारी को बता देने पर वह फलवती नहीं होती।

साधकों को अपना अभ्यास निरन्तर जारी रखना चाहिए। यदि बीच बीच में छूट जाये तो हम अपनी स्थिति से गिर जाते हैं और उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए फिर से प्रयत्न करना पड़ता है। हमें अपनी साधना में साध्य के समान ही आदर बुद्धि रखनी चाहिए, यदि हम साधना का अवहेलना या तिरस्कार करेंगे तो साध्य कभी भी प्राप्त न होगा। साध्य तक पहुँचते हुये मार्ग में बहुत सारी बाधायें आती हैं उन में से कुछ यह हैं। अश्रद्धा, आलस्य, प्रमाद, पुरुषार्थ हीनता, अधैर्य, असंयम, संशय, अपवित्रता, मान की चाह, चपलता, पर निन्दा, माता पिता और गुरुजनों की अवहेलना, दूसरों के साधना के प्रति क्षोभ, साधना का अभिमान विपत्ति में घबड़ाकर साधना छोड़ देना, किसी मनुष्य स्थान और वस्तु विशेष में ममता।

परन्तु हमें इन विघ्नों से घबराना नहीं चाहिए। हमें इन विघ्नों का मुकाबला करना चाहिए।

अतः हम सब भाइयों को सर्व समर्थ सद्गुरुदेव के अभय चरणों का आश्रय लेते हुये अपनी साधना में लग ही जाना चाहिए। क्योंकि साधना और सेवा ही हमारा धर्म है। कृपा करना भी प्रभु जी का धर्म है। धन्य है वे सब, जो दिव्य चक्षु के दाता श्री सर्व समर्थ गुरुदेव के चरणारविन्दों में रहकर उस अविनाशी अभय पद को पा गये हैं और पा रहे हैं।

आरती

[श्रीपंत महाराज, बेलगांव]

आरती पुरी को मेरी गुरुने, करता हूं मंगलारति।
तुमकी करता हूं मंगलारति, जीव शिव बन स्वयं ही बना॥
स्वानन्द स्फूर्ति, चिद्विलासमें जग यह नटता।
रही नहीं द्वैत स्थिति, देखकर एकात्मरूप स्वरूप॥
शांत हुई अहंस्फूर्ति, सद्गुरुपदमें सर्वस्व करे न्योछावर॥
नित्य अद्वयानंदमें खेलेंगे, प्रेम घृत भरकर अन्तरमें।
ज्ञानदीप जलावेंगे, द्वैतनाश्चल निकालकर सहज॥
अद्वैत का करेंगे उजाला, मैं मन चढ़ाकर दत्तचरणों में।
नित्य प्रेम में लोटेंगे॥

—×०×—

आध्यात्मिक--समाधान

[बहिन श्री द्रौपदीदेवीजी, अमृतसर]

प्रश्न—काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार महाबलवान् शत्रु हैं। किस विचार के द्वारा प्रभु-प्रेमी इन पर विजय पाये ?

काम पर

उत्तर—जब काम का चिन्तन हो, तब पुरुष दूषण सतीत्व का ध्यान न कर अपने सत्य धर्म की रक्षार्थ सद्गुणों का विचार करे, जिससे असत् संकल्पों का त्याग एवं दैवीगुणों की उत्पत्ति होकर काम शत्रु पर विजय प्राप्त हो सके।

क्रोध पर

जब किसी निमित्त से क्रोध रूपी अग्नि हृदय में भड़क उठे, तब यह विचार करे कि 'स्वयं को जलाकर दूसरों को क्यों जलाता है ? अपने आपको कलंकित करता है। उपर्युक्त विचार द्वारा धैर्य एवं क्षमारूपी जल से उस अग्नि को शान्त करे। क्रोध पर विजय प्राप्त करे।

लोभ पर

जब लोभ हृदय को पिघलावे, तब यह विचार करे कि 'क्षणभंगुर आयु' के लिये अल्प वस्तु के निमित्त क्यों मूढ़ों की तरह विनाशी पदार्थों के पीछे मरुस्थल के मृगवत भटक-भटक कर तृष्णा को बढ़ाता है और दुःख पाता है। इस विचार के द्वारा वासना को निवृत्त करके संतोष को धारण करे और थोड़ी वस्तु पर संतुष्ट होकर लोभ रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करे।

मोह पर

जब मोह हृदय में प्रवेश करे, सांसारिक वस्तुओं का उसमें दुःख रहे, तब

शरीर नाशवान है—ऐसा विचार और निश्चय करके मोह का त्याग करे तथा वैराग्य को धारण कर मोह रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करे।

अहंकार पर

जब अहंकार उत्पन्न होकर मैं-मेरी की मिथ्या मान्यता और जड़ पदार्थों की ममता से बांधना चाहे तब विचार करे कि 'शरीर नाशवान है, नाम वर्ण आश्रम और सम्बन्ध ये सब कल्पित और झूठे हैं आगमापायी हैं। इन पर मिथ्या अभिमान योग्य नहीं। इस विचार से अहंकार रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करे।

—×○×—

प्रार्थना का महत्व

रोज के स्नान की जो उपयोगिता है, वही जीवन में प्रार्थना की है। स्नान से देह का मैल साफ होता है, प्रार्थना से अन्तःकरण का और मन का। स्नान से भी प्रार्थना की अधिक जरूरत है। जाड़े के दिनों में, बीमारी में स्नान न करें तो भी चल सकता है, या हफ्ते में एकाध बार करना भी काफी होता है। पर प्रार्थना का ठीक इससे उल्टा है। वह तो हररोज क्या, हरक्षण ही होनी चाहिए। उसका अभ्यास करने के लिए हम रोज दो दफा प्रार्थना करते हैं। असल में प्रार्थना करनी नहीं पड़ती। वह स्वाभाविक रूप से होनी चाहिए। और जब वह ऐसी स्वाभाविक होगी तभी वह हरक्षण भी होगी।

हमारे मन में राग-द्वेषादि अनेक दोष भरे हैं, इसका तो हरेक जागृत आदमी को अनुभव आता ही है। उनको दूर कैसे करें? अपने प्रयत्न से और ईश्वर की भक्ति से। अपने प्रयत्न का स्वरूप जनता की सेवा हो। ईश्वर की भक्ति का बाह्य चिह्न प्रार्थना है। इसलिए जनता की सेवा और प्रार्थना, इन दो में से केवल एक से ही काम नहीं चलेगा, दोनों चाहिए। दो पहियों के बिना गाड़ी ठीक नहीं चलती, अपने प्रयत्न से सब दोष दूर नहीं होते, यह सभी साधुओं का अनुभव है। बड़ा से बड़ा वीर भी कामक्रोध के सामने दीन बन जाता है, यह हम इतिहास और व्यवहार से देखते हैं।

—वल्लभस्वामी

संयम

[डॉ० बदरीनारायण पचोली]

(सांख्ययोग-विभागाध्यक्ष, श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली-१२)

[योग में 'संयम' शब्द का स्वरूप और महत्व क्या है इस पर विद्वान लेखक ने विस्तार से प्रकाश डाला है। योग-मार्ग के साधकों को निश्चय ही इससे उचित मार्ग दर्शन प्राप्त होगा। सं० सम्पादक]

सामान्यतः लोग संयम शब्द सुनते ही समझ लेते हैं कि शास्त्रीय मर्यादाओं एवं सामाजिक सीमाओं के अन्तर्गत आहार एवं व्यवहार को सम्यक् प्रकार से स्वाधीन किया जाय। यह सामान्य अर्थ समझ कर भी यदि लोग इस 'संयम' का पालन करें तो भी विश्व में छा रहे इस असन्तोष एवं उच्छृङ्खलता से कुछ राहत अवश्य मिले। भगवद्गीता में भी भगवान् श्री कृष्ण के मुखारविन्द से निर्देश समधिगत होता है कि —

युक्ताहार विहारस्य,
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःखहा॥

लिखने का तात्पर्य यह है कि योगी बनने के लिए समुत्सुक प्राणी का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह आहार व्यवहार से सम्बन्धित संयम का भी यथाचार अवश्य पालन कर अपने आपको योगदर्शन प्रतिपादित 'संयम' हेतु समुद्यत करे।

पातञ्जलयोग दर्शन में यम-नियम-आसन प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि नामक आठों योगाङ्गों का प्रतिपादन करके भगवान् पतञ्जलि लिखते हैं —

'त्रयमेकत्र संयमः'

इस सूत्र में अन्तिम तीनों योगाङ्ग धारणा ध्यान एवं समाधि को सम्मिलित रूप से पुकारने के लिए तीनों का सामूहिक नाम 'संयम' रखा गया है। किन्तु इन तीनों में एकतानता रहने पर ही संयमत्व समधिगत होता है। कहने का आशय यह है कि जिस स्वरूप में धारणा बनी है उसी स्वरूप में ध्यान बने और उसी स्वरूप में समाधि भी लग जाये तभी 'संयम' स्पष्ट होता है। क्योंकि सूत्र में ही सुस्पष्ट रूप से लिख दिया है कि एकत्र अर्थात् एक ही ध्येय

में त्रयम् अर्थात् धारणा-ध्यान और समाधि हों तो वह 'संयम' कहलाता है।

अब इस 'संयम' के अंग भूत धारणादि के विषय में भी विचार कर लेना परमावश्यक है। धारणा के विषय में महर्षि पतञ्जलि सूत्र लिखते हैं—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा"

नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक व्योम चक्र आदि ध्येय तत्त्व का ध्यान करने के लिए अनुभवी योगियों के द्वारा स्वानुभूति के आधार पर निश्चित किये हुए कुछ पिञ्जरे के भीतर के स्थान विशेष हैं जिन्हें यहाँ पर देश शब्द द्वारा सङ्केतित किया गया है। बन्ध का मतलब यहाँ सामान्य बन्धन नहीं है किन्तु एकाग्रता रूपी बन्धन से युक्त चित्त को करना ही यहाँ बांध शब्द का तात्पर्य है।

यद्यपि धारणा-ध्यान समाधि इन तीनों में ही चित्तवृत्ति को एकाग्र कर ध्येय के आकार से युक्त करना ध्येयाकाराकारित करना होता है किन्तु तीनों प्रथम मध्यम एवं उत्तम श्रेणी के समान हैं अथवा यों कहें कि राजयोग रूपी महल पर चढ़ने के लिए ये तीनों श्रेष्ठ सीढ़ियां हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह सब कुछ होते हुए भी सामान्य सीढ़ियों की तरह ये सर्वथा समान स्थिति वाली नहीं हैं अपितु सप्त व्याहृति सहित गायत्री मन्त्र की सप्त आवृत्ति होने पर एक प्राणायाम पूरक-कुम्भक एवं रेचक तीनों मिलकर होता है ऐसे बारह प्राणायाम पर्यन्त यदि चित्त-वृत्ति एक ही ध्येय का चिन्तन करती रहे उसके अतिरिक्त बारह प्राणायाम पर्यन्त और कोई विचिन्तन व्युत्थित न करे तो धारणा बनती है। ऐसी बारह धारणा अर्थात् ऐसे एक सौ चौवालीस प्राणायाम पर्यन्त यदि ध्येयाकाराकारित चित्त-वृत्ति बन सके तो समझना चाहिए अब हमारा ध्यान लग गया है। इसी तरह यदि बारह ध्यान अर्थात् सत्रह सौ अट्ठाईस प्राणायाम पर्यन्त चित्त-वृत्ति ध्येयाकाराकारित रह सके तो समझना चाहिए अब समाधि लगने लगी है।

यद्यपि समाधि एवं योग में भेद नहीं है युज समाधौ धातु से निष्पन्न योग शब्द समाधि ही होता है किन्तु वह सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि का वाचक योग शब्द यहाँ संयम के अन्तर्गत जो समाधि योग का आठवां अंग निरूपित किया गया है वह असम्प्रज्ञात समाधि में परम्परया तथा साक्षात् सम्प्रज्ञात समाधि में पहुँचने का पूर्वरूप है।

विभूतिपाद के प्रारम्भ में संयम का निरूपण किया गया है तथा विभिन्न पदार्थों पर कृत संयम के विभिन्न फल बतलाये गये हैं किन्तु इसमें महर्षि का यह तात्पर्य कदापि नहीं मानना चाहिए कि संयम का उपयोग कर नैसर्गिक ऐश्वर्यों की समुपलब्धि कराकर योग

का चमत्कार प्रस्तुत करना मात्र है। अपितु ये सभी संयमोपलब्ध सिद्धियाँ व्युत्थानावस्था वाले के लिए ही सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं योगी मुमुक्षु के लिए तो इन्हें उपसर्ग कहा गया है। लिखने का तात्पर्य यह है कि संयम सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध करने का अन्तरङ्ग साधन मात्र है और तत्तत्स्वरूप पर संयम करने पर जो सिद्धियाँ समधिगत होती हैं उन्हें लक्ष्य न मानकर सही रास्ते पर हम अग्रेसर हो रहे हैं इसका सद्भूतमात्र मानना चाहिए। जैसे किसी लक्ष्य भूत विशिष्ट स्थान पर जिगमिषु व्यक्ति को मार्ग निर्देशक मार्ग के मध्य में आने वाले विभिन्न स्थान बतलाता है और जाने वाला व्यक्ति उन स्थानों को पाकर वहीं रमता नहीं अपितु वह केवल, अपने सही मार्ग पर चल रहा हूँ यह समझता हुआ मध्य में प्राप्त स्थानों से गुजरता हुआ निश्चित लक्ष्य को समधिगत करने तक लगातार बढ़ता जाता है। उसी प्रकार योग मार्ग पर चलने वाले साधक को भी असम्प्रज्ञात समाधि की समुपलब्धि पर्यन्त निरन्तर योग मार्ग में बढ़ते रहना चाहिए। संयमों से प्राप्त होने वाली सिद्धियों के चाकचक्य में फँसना नहीं चाहिए।

'संयम' सामान्य साधक के लिए नैकविध ऐश्वर्यों को दिलवाने वाला चमत्कारिक साधन है तथा विशिष्ट साधक के साधना की आधार-शिला है। बिना संयम के ऐहिक एवं आमुष्मिक दोनों ही फलों की उपलब्धि नहीं हो सकती और न सामान्य स्थिति भी व्यवस्थित रहती है अतः सामान्य एवं विशेष दोनों ही स्वरूपों में संयम परमोपयोगी है।

—×○×—

जयन्ति वाचः फणिभर्तुरान्तर-
स्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विषः ।
विभाव्यमानाः सततं मनांसि याः
सतां सदाऽऽनन्दमयानि कुर्वते ॥

'जो अन्तःकरण के अज्ञानमय अन्धकार का निवारण करने के लिये चन्द्रमा की किरणों के समान प्रकाशित हो रही है तथा निरन्तर अनुशीलन करने पर, जो साधु-पुरुषों के मन को सदा आनन्दमय करती रहती है, शेषावतार महर्षि पतञ्जलि की वे वाणी सर्वोपरि विराजमान है।'

—राजा भोज

स्त्यान

[श्री गिरीशदेव वर्मा, बहराइच]

[सुयोग्य लेखक ने 'योग के विघ्न व उनके उपाय' शीर्षक अपनी लेखमाला का आरम्भ गत वर्ष के बारहवें अङ्क में किया है। अपनी लेखमाला के इस दूसरे लेख में चित्त के नौ विक्षेपों में से स्त्यान विक्षेप के रूप को अपनी भाषा में सरलता और व्यावहारिकता से समझाने का प्रयास किया है। साथ ही आपने इस विघ्न को कैसे हटाया जाय इसके व्यावहारिक उपाय भी बतलाये हैं। सं० सम्पादक]

शरीर की सुस्ती को आलस्य कहते हैं और मन की सुस्ती को स्त्यान कहते हैं। योग-साधन आरम्भ तो कर दिया किन्तु थोड़े दिन बाद मन बहाने बनाने लगा कि यह स्थान योग-साधन लायक नहीं है। हिमालय में कोई एकान्त स्थान तलाश करके तब साधन आरम्भ करना चाहिए। कभी मन कहने लगता है कि इस उमर में कौन इतने सबेरे उठे और स्नान ध्यान, आसन, प्राणायाम करे। अभी इस तपस्या को छोड़ो चौथेपन में योग-साधन करेंगे। इस प्रकार से मन में सुस्ती आने लगती है। और वह अनेक बहाने बनाने लगता है और यह विघ्न साधन ही छुड़ा देता है।

मेरे एक साथी थे। वे एक अमीर सेठ के लड़के थे। हम लोग एक साथ प्रातः घूमने जाया करते थे। थोड़े दिनों बाद हम लोगों का साथ एक महात्माजी से हो गया। वे बड़े अच्छे सन्त, वीतरागी, योगी व विद्वान थे। उन्होंने हम लोगों को योग पथ पर चलाना आरम्भ किया उनकी साधना सिखाने की शैली बड़ी अच्छी व रुचिकर थी। हम लोग प्रातः तीन बजे उठकर नगर से दूर जंगल में चले जाते और वहाँ नदी में स्नान करके आसन, प्राणायाम का अभ्यास करते। थोड़े दिनों तक तो वह सेठ का पुत्र हम लोगों के साथ अभ्यास करता रहा किन्तु कालान्तर में उसे 'स्त्यान' विघ्न ने घर दबाया। वह कहने लगा कि अभी हम लोगों की नई उमर है, यह आयु योग-साधन के लिए नहीं है, अभी तो खेलने व खाने की आयु है। पचास वर्ष की आयु के बाद योग-साधन करेंगे। धीरे-धीरे उसने हम लोगों का साथ छोड़ दिया, वह व्यापार करने लगा। अच्छा पैसा पैदा किया और बड़ा सेठ भी बन गया। कोई तीस साल बाद उससे एक बार मुलाकात हुई तो मैंने पूछा कि सेठजी ! कुछ भगवान का भजन भी होता है या नहीं। उसने बड़े उदास भाव से कहा कि मित्र ! मैंने महात्मा जी के संरक्षण में तुम्हारे साथ योग-साधन आरम्भ किया था किन्तु न मालूम मेरे चित्त में क्या विकार उठा कि मैं सब साधन छोड़ बैठा, रुपया कमाने में

फंस गया और यौवन बर्बाद हो गया। अब तो यह शरीर रोगों का घर बन गया अब कुछ भजन साधन करना चाहता हूँ तो सीधे बैठ नहीं पाता हूँ। राम-राम रटना चाहता हूँ तो जबान नहीं हिलती है। उस सेठ का अन्त बड़ा दुःखद रहा। मरते समय राम-नाम भी नहीं बोल सका।

इस लेखमाला को लिखते समय एक सज्जन आये। वे शुरू में योग साधन करते थे। आसन, प्राणायाम का अभ्यास भी चल पड़ा था, मगर थोड़े दिन बाद मन में सुस्ती आने लगी। और अभ्यास में शिथिलता आने लगी। उन्होंने इस स्त्यान अन्तराय को दूर करने का कोई उपाय नहीं किया और साधन छोड़ दिया। कुछ समय बीतने के बाद उनके शरीर में रोगों ने आक्रमण करना शुरू किया। एक बार प्लुरिसी हो गई। उसका इलाज किया तो दिल में धड़कन होने लगी। वे बताने लगे कि एक रोग की चिकित्सा करता हूँ तो दूसरा मर्ज उभड़ आता है। इस समय उन्हें गैस वायु का कष्ट है। सीने में दर्द हुआ करता है। सिर में चक्कर आता रहता है। कब्ज भी रहता है और नींद नहीं आती। वे डाक्टरों व वैद्यों से परेशान हो गये हैं। मेरे पास सलाह लेने आये थे कि क्या योग में कोई ऐसी क्रियायें हैं जिनसे उनके रोग दूर हो सकते हैं। मैं ने उन्हें जीवन तत्व साधन की क्रियाओं को करने के लिए कहा। उसकी पुस्तक दी। हर क्रिया को कराकर सही ढंग बता दिया। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि आप इन क्रियाओं को नियम पूर्वक करें तो आपके सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जायेंगे। मैंने उन्हें सलाह दिया कि कुछ दिन बाद आप योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्धगुफा सवाई भी चले जावें और श्री सद्गुरुदेव जी महाराज से योग-साधन सम्बन्धी बातें भी जान लें।

स्त्यान एक धोखा देने वाला अन्तराय है। जब यह विघ्न चित्त में आ जाता है, तब साधक का पतन होने लगता है। यदि कोई समर्थ योगी गुरु मिल जाय तो उसके इस अन्तराय को हटाकर पुनः साधन पथ पर लगा सकता है। स्त्यान विघ्न आने पर साधन को छोड़ नहीं देना चाहिए। अपितु गुरु की शरण में चले जाना चाहिए।

एक सेठ जी थे, वे करोड़ों रुपये के स्वामी थे। बहुत बड़ी कोठी एवं सम्पत्ति थी। बड़ा कारोबार था। कितने ही मुनीम उनके यहाँ काम करते थे। सेठ जी का नियम था कि नित्य प्रातः नदी की ओर चले जाते और वहाँ शिव के मन्दिर में एक लोटा जल चढ़ाकर कुछ स्तुतियाँ कर लेते और लौट आते। दिन भर अपने कारोबार में व्यस्त रहते। न कभी दान करते न अतिथि सेवा और न भजन।

एक दिन सेठ जी अपने कार्यालय में बैठे थे। बड़ी-बड़ी बहियों को देख रहे थे। तभी

एक योगी साधु वहाँ पहुँचा और बोला सेठजी ! मंजिल दूर है और समय कम है, कुछ उपाय कर लीजिए। सेठजी ने न उसकी बात सुनी और न उसकी ओर देखा। योगी ने फिर कहा सेठजी ! यात्रा पर चलना है, कुछ सम्बल जुटा लीजिए, नहीं तो पछताना पड़ेगा। इस बार सेठ जी ने उसकी तरफ देखा और कहा कि बाबा ! यहाँ बक-बक करने से क्या लाभ है ? हमारा समय नष्ट न करो। यदि पैसे चाहिए तो ले लो। मुनीम जी ! बाबा को दस पैसे दे दो। योगी ने कहा कि मुझे पैसे नहीं चाहिए। मैं तो केवल चेतावनी देने आया हूँ कि मनुष्य का शरीर साधन के लिए मिला है। धन कमाने व भोग-विलास में जीवन व्यतीत करने से अन्त में पछताना पड़ेगा।

जो न तरै भवसागर,
नर समाज अस पाय।
सो कृत निन्दक मन्दमति,
आत्माहन गति जाय॥

कुछ मुक्ति का उपाय कीजिए। कुछ समय योग-साधन में लगाइये। भगवान का भजन भी किया कीजिए।

सेठ जी खीझ से गये और बड़ी रुखाई से बोले बाबा ! आप जाकर कहीं और उपदेश दीजिए। मेरे पास इसके लिए समय नहीं है। भजन-पूजन बचपन में किया जाता है। अभी तो मेरे ऊपर घर-गृहस्थी व कारोबार का भार है। आप जाइये।

योगी ने पुनः कहा कि सेठजी ! सोच लीजिए सफर लम्बा है और आपका हाथ खाली है। आपके चित्त को स्थान अन्धकार ने घेर लिया है। सेठजी क्रोधित हो गये और गरज कर बोले-इस बाबा को यहाँ से हटाओ। मेरा अमूल्य समय नष्ट कर रहा है। इसे धक्के देकर बाहर निकाल दो। योगी ने कहा निकालने की आवश्यकता नहीं है मैं स्वयं चला जाता हूँ। यह कह कर योगी साधु बाहर चला गया और नदी के पास एक वृक्ष के नीचे बैठ कर प्रभु का ध्यान करने लगा। दूसरे दिन सेठ जी नदी किनारे वाले मन्दिर में जल चढ़ाने आये तो योगी ने उन्हें देखा और पहचाना और उसके मन में एक विचार आया और वह मुस्कराने लगा। उसने अपने योग बल से अपना चेहरा और शरीर ठीक वैसे ही बना लिया जैसा सेठजी का था। वैसे ही कपड़े बना लिए, वैसी आवाज भी और उठके चल पड़ा सेठजी की कोठी की ओर। फाटक पर पहुँचा तो चौकीदार ने सिर झुका कर नमस्कार किया। योगी सेठ ने कहा शेरसिंह ! आज जरा सावधान रहना। एक बहुरूपिया नगर में आया है। बिल्कुल मेरी जैसी सूरत बना रखी है मेरे जैसे कपड़े पहन रखे हैं। मेरी जैसी आवाज में बोलता है। वह आये तो धोखे में

मत आना, उसे भीतर मत आने देना।

शेरसिंह चौकीदार ने कहा—मालिक ! ऐसी की तैसी उस बहुरुपिये की। मैं उसका सिर फोड़ दूंगा। मेरे होते वह कोठी के अन्दर कैसे जा सकता है !

योगी सेठ ने भीतर जाकर मुनीमों से बातचीत की। उन्होंने प्रणाम किया तो योगी ने उनसे भी कहा आज जरा सावधानी से रहना भाई ! एक बहुरुपिया हूबहू मेरे जैसी शकल-सूरत बनाकर नगर में आया है। मेरे जैसे कपड़े पहिन रखे हैं और मेरी जैसी ही आवाज में बोलता है। मैंने उसे देखा तो चकित रह गया तुम भी चकित हो जाओगे। किन्तु जरा सावधान रहना। कहीं वह यहाँ आकर तुम्हें धोखा न दे।

पुनः वह घर में गया। वहाँ सेठानी और बच्चों से भी यही बात कही। घर के नौकरों से भी। फिर नगर के बड़े पुलिस अधिकारी के पास चला गया। अधिकारी ने उसे सत्कार पूर्वक बैठा या और पूछा कहिये सेठ जी ! कैसे आना हुआ। मेरे लायक कोई सेवा हो तो बताइये ?

योगी सेठ ने कहा—एक अनोखी बात हो गयी है। एक बहुरुपिया आ गया है नगर में। बहुत चतुर है वह। शकल-सूरत, आवाज, कपड़े सब कुछ मेरे जैसा बना लिया है उसने। मुझे डर लग रहा है कि कहीं नगर में मेरे नाम से कोई रुपया पैसा या दूसरी चीज उधार न ले ले और बाद में मुझे भरना पड़े, इसलिए आपको सूचना देने आया हूँ। आप ऐसी व्यवस्था करिये कि अन्य लोग सावधान रहें।

पुलिस अधिकारी ने कहा आप चिन्ता न करें। मैं समझ लूंगा उस बहुरुपिये को फिर योगी सेठ सारा प्रबन्ध करके अपने कार्यालय में आकर गद्दी पर बैठ गया।

इतने में असली सेठ मन्दिर में पूजा करके अपनी कोठी के फाटक पर आये। अन्दर जाने लगे तो चौकीदार ने रोक कर कहा। अबे ! कहाँ घुसा आता है तू। सेठ ने कहा अरे ! तू मुझे पहचानता नहीं ? मैं तो यहाँ का मालिक सेठ हूँ। चौकीदार ने कहा जा-जा यह धोखा किसी दूसरे को दे। मेरे सेठ जी तो भीतर बैठे हुए हैं। सेठ ने कहा—अरे ! तू पागल तो नहीं हो गया है। तुझे पागलखाने भेजने की व्यवस्था करनी पड़ेगी। मैं यहां खड़ा हूं और तू कहता है सेठ जी भीतर बैठे हुए हैं। चौकीदार बोला पागल मैं नहीं तू है। बहुरुपिया कहीं का। चला जा यहां से नहीं तो लाठी मार कर सिर फोड़ दूंगा

सेठ जी ने ऊँची आवाज में उसे गालियां दी तो भीतर से मुनीम व दूसरे लोग भागे हुए बाहर आये। उन्होंने चौकीदार से पूछा कि क्या बात है ? चौकीदार ने कहा कि यह बहुरुपिया कहता है कि मैं सेठ हूँ। जबरदस्ती

भीतर घुसना चाहता है। एक मुनीम ने कहा कि अच्छा तो यही है वह बहुरूपिया, जिसकी बात सेठ ने कही थी। रूप तो खूब भरा है इसने। किन्तु जा भाई यहाँ से। यह हमारे काम का समय है। सेठ ने कहा—अरे! तुम भी नहीं जानते मुझे!

मुनीम बोला बहुत अच्छी तरह पहचानते हैं तुम्हें। हमारे सेठ जी ने यदि पहले से बता न दिया होता और वह भीतर गद्दी पर बैठे न होते तो वास्तव में हम धोखा खा जाते। बहुत अच्छा स्वांग बनाया है तुमने! सेठ जी गर्ज कर बोले तुम सब का दिमाग खराब हो गया है या कोई षड्यन्त्र कर रखा है तुमने। मैं गद्दी पर कैसे हो सकता हूँ। मैं तो यहाँ खड़ा हूँ। अभी-अभी अन्दर से आया हूँ। सब लोग ठहाका लगा कर हँसने लगे। उस मुनीम ने कहा अच्छा! तेरी बकवास बहुत सुन ली। अब चला जा यहाँ से। यह हमारे काम का समय है। सेठ जी गुस्से से बोले कि तुम सब पागल हो। मैं तुम सबको डिसमिस कर दूँगा।

मुनीम ने कहा—अबे बहुरूपिया! सीधी तरह चला जा नहीं तो हम पुलिस को बुलाकर उसके हवाले कर देंगे। जेल की हवा खानी पड़ेगी। सेठजी का दिमाग चकराने लगा। जी में आया कि कहीं से लाठी लाकर सबको पीट डालूँ। किन्तु वे बहुत थे सेठजी अकेले। इसलिए दूसरे दरवाजे की ओर गये, वहाँ उनके बच्चे खड़े थे। उन्हें देखते ही जोर-जोर से बोले अरे! देखो, जिसके बारे में पिता जी ने कहा था, वही आ गया है। एकदम पिताजी जैसा लगता है।

सेठ जी ने यह बात सुनी तो रहा सहा धैर्य भी जाता रहा। काटो तो लहू नहीं बदन में। थोड़ी हिम्मत कर के बोले—अरे! देखो तो सही मैं तुम्हारा पिता हूँ। बड़े बच्चे ने क्रोध से कहा—जा, जा! पिता बनने चला है। हमारे पिताजी तो भीतर बैठे हैं। तू हमें धोखा देने आया है।

अब सेठ जी क्या करें। आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा। अपने बच्चे ही नहीं पहिचान सकते तो फिर कौन पहिचानेगा। तभी विचार आया कि नगर का बड़ा पुलिस अधिकारी मेरा मित्र है। उसके पास चलूँ। वह आकर इन सबको ठीक कर देगा। और वह पहुँच गया पुलिस कार्यालय में।

पुलिस अधिकारी ने इन्हें दूर से आते देखा मन ही मन कहा कि यही वह रूप बनाने वाला है किन्तु कमाल किया है इसने। इतनी देर में सेठ जी दफ्तर में पहुँच गये। अधिकारी ने व्यंग के रूप में कहा—आइये सेठजी! सेठ जी की जान में जान आयी और हँसते हुए कहा कि शुक्र है कि आपने मुझे पहिचाना। मेरे मुनीम आश्रित घर वाले तो मुझे पहचानते ही नहीं। मैं आपकी सहायता लेने आया हूँ।

अधिकारी ने हँसते हुए कहा:— बहुत अच्छा स्वांग भरा है तुमने। किन्तु यह बहुरूप समाप्त करो नहीं तो मैं तुम्हें गिरफ्तार करके जेल भेज दूँगा। तुम्हारे इस स्वांग से दूसरे को धोखा हो सकता है। सेठ जी फिर घबराये और बोले क्या कहते हैं आप, आपने भी मुझे नहीं पहिचाना?

अधिकारी ने कहा—खूब पहिचानता हूँ तुम्हें। सेठ जी मुझे सब बता गये थे। तुम चाहो तो उनसे दस-बीस रुपये पुरस्कार दिला सकता हूँ। अपनी कला के ऊँचे कलाकार हो तुम।

सेठजी पागलों की तरह उठे और बाहर चले गये। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि सबको क्या हो गया है। अन्त में वे एक वकील से सलाह करके कचहरी गये और मुकदमा दायर कर दिया। मजिस्ट्रेट ने इन सेठ जी को बुलवाया और योगी सेठ को भी। दोनों को देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि दोनों की शकल, सूरत आँख, नाक, कान, मुँह आवाज सब एक जैसे हैं। दोनों ने कहा कि असली सेठ मैं हूँ। फिर गवाहियाँ शुरू हुईं। योगी सेठ की गवाही, सेठ की पत्नी, बच्चों व मुनीमों, नौकरों ने दी। इन सेठ की गवाही वकील व एक दो अन्य पुरुषों ने दी।

मजिस्ट्रेट ने कहा— इस तरह निर्णय नहीं हो सकता, मैं कुछ प्रश्न पूछता हूँ। उनके उत्तर दो। पहिले उसने इन सेठ जी से पूछा कि तुम कहते हो कि तुम वास्तविक सेठ हो, यह दूसरा आदमी बहुरूपिया है। सेठ जी बोले यही कहता हूँ सरकार। मेरा रूप बनाकर इसने सबको मूर्ख बनाया है। मजिस्ट्रेट ने कहा- वह भी तो यही कहता है कि तुम बहुरूपिये हो। अच्छा तो बताओ कि तुम जिस कमरे में बैठकर काम करते हो उसमें कितनी अलमारियाँ और किस साइज की हैं और उनमें कितनी लकड़ी की और कितनी लोहे की हैं। सेठ जी बोले—यह मैं कैसे बता सकता हूँ, अलमारियों का देखना मेरे मुनीमों का काम है। मजिस्ट्रेट ने पूछा—अच्छा यह बताओ कि जहाँ तुम बैठते हो वहां से दायें हाथ की ओर जो चौथा संदूक है, उसके भीतर क्या है। सेठ जी बोले—आप भी कैसी बातें पूछते हैं। यह सब कुछ मैं देखता नहीं, यह सब तो मेरे मुनीम देखते हैं।

मजिस्ट्रेट ने कहा—अच्छी बात है। बाहर बैठ जाइये। अब मैं दूसरे सेठ से प्रश्न पूछूँगा।

योगी सेठ बुलाये गये। मजिस्ट्रेट ने पूछा कि आप जिस कमरे में बैठते हैं वहाँ कितनी अलमारियाँ व सन्दूक हैं, किस साइज के हैं और कितनी लोहे की हैं और कितनी लकड़ी की। योगी सेठ ने योग बल से अपने ध्यान में देखने के बाद उत्तर दिया कि उस कमरे में

पन्द्रह अलमारियाँ, बीस सन्दूकें है। पाँच लकड़ी की अलमारियाँ ६'×३' की है। और दस गोदरेज की अलमारियाँ है। उसमें पाँच ७२"×४२" की हैं और पाँच ६०"×३६" की हैं। यह पिछले दस वर्षों में समय-समय पर खरीदी गयी थीं।

मजिस्ट्रेट ने पूछा—अच्छा यह बताओ कि जहाँ तुम गद्दी पर बैठते हो वहाँ से दाईं ओर जो चौथा सन्दूक है उसके भीतर क्या है? योगी सेठ ने फिर ध्यान की शक्ति से देखा और कहा कि उसमें चाँदी के तीन हजार रुपये है। सौ-सौ के दस हजार के नोट हैं। उसमें हिसाब-किताब की बहियाँ हैं। इस संदूक में जो बही है वह अपने लिए ठीक व सच्ची है। मजिस्ट्रेट ने पूछा कि सच्ची बही से क्या मतलब? क्या झूठी भी बहियाँ है। योगी सेठ ने कहा कि हाँ सरकार! एक बही इन्कम टैक्स वालों के लिए झूठी और बनावटी लोहे की अलमारी नं० २ में रखी है।

मजिस्ट्रेट ने कोर्ट इन्सपेक्टर, अहलमद व वकील को भेजा कि इसी समय सेठ के कार्यालय में जाकर देखो कि ये बातें ठीक हैं या नहीं। बड़े मुनीम को अपने साथ लेते जाओ। वे लोग गये और देखा कि योगी सेठ ने जो कहा था वह सब सही है। पन्द्रह आलमारियाँ थीं बीस सन्दूक थे। एक सन्दूक में तीन हजार चाँदी के रुपये व दस हजार के नोट थे। हिसाब किताब की दो प्रकार की बहियाँ थीं। उन लोगों ने सारी बात अदालत को लिख कर दे दी।

मजिस्ट्रेट ने निर्णय दिया कि योगी सेठ ही असली सेठ है। यह दूसरा आदमी जिसने मुकदमा दायर किया है, वह बहुरूपिया है। सेठ जी माथा पीटकर बाहर आ गये। धन, सम्पत्ति, परिवार सब छिन गया। असीम निराशा में उसी नदी के किनारे पहुँचे और सोचने लगे कि नदी में डूब कर हत्या कर लूँ। अब जीने से क्या लाभ? बार-बार उनकी आँखों से आँसू आ रहे थे।

उसी समय योगी साधु उनके पास आया और कहा कि सेठ जी नमस्कार, समय कम है और यात्रा लम्बी है। भगवान के भजन के लिए समय निकालिये। सेठ जी उसको देखते ही उसके चरणों पर गिर पड़े और रोते हुए बोले—महाराज! अब तो दिन-रात भगवान का भजन करना है। मेरा तो सब कुछ छिन गया। घर-परिवार चला गया। मैं एक ही दिन में राजा से रङ्क हो गया। योगी साधु ने कहा सेठ जी! आप घबड़ाइये नहीं। यह सब तमाशा मैंने तुम्हें शिक्षा देने के लिए दिखाया था। मैंने ही सेठ का रूप बना लिया था। मगर मुझे तुम्हारी धन, सम्पत्ति से क्या काम? तुम जाओ और अपना

अपना सब कारबार सम्हालो।

सेठ जी भावातिरेक वश आंसू बहाने लगे और बार-बार साधु के चरणों में प्रणाम करते हुए कहने लगे। महाराज! आप मेरे गुरु हैं। आप ने मेरे ज्ञान के नेत्रों को खोल दिया। मैं अपने मन के बहकावे में पड़ा था। भगवान की आराधना के लिए समय ही नहीं निकाल पाता था।

योगी ने कहा—सेठजी! आपको स्वप्ना-न्तराय ने घर लिया था। मैंने यह नाटक इस लिए रचा था कि आपके मन की सुस्ती दूर हो जावे। आप समझ जावें कि जो भगवान सब कुछ दे सकता है वह छीन भी सकता है। अब आप अपना कारोबार करते हुए भगवान का भी स्मरण करें और योग-साधन में समय लगावें।

साधन से सिद्धि

(साहित्याचार्य श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर')

सुयश, शान्ति हित, जग-जन-जन दिन रात भटकते,
कर-कर विविध अनर्थ, अर्थ-सुख स्वयम् झटकते।
किन्तु शान्ति, सन्तोष, नहीं मिल पाता उनको,
मृग तृष्णावश व्यर्थ, अधर में रहें लटकते।

(२)

केवल धन से, किसे मिल सका है सच्चा-सुख,
धन-संग्रह का मोह, बढ़ाता है दारुण-दुख।
दान, भोग ही, सदुपयोग है धन का उत्तम,
सुकृती अपना कर उसको करते उन्नत-मुख।

(३)

निज दुख से जन दुखी रहें, दिन-दिन दुख पाते,
सुजन धन्य, जो पर-पीड़ा में हाथ बटाते।
जग-यश सचमुच परोपकार से ही है संभव,
'शङ्कर' साधक सिद्ध सदा इसको अपनाते।

—×०×—

ध्यान

[श्री जगदीश नारायण मेहरा एम.एस.सी. अजमेर]

[प्रस्तुत लेख में मनीषी लेखक ने ध्यान को प्रतीति, देश, काल, दिग् तथा शून्य सोपानों में विभक्त कर ध्यान की विज्ञान तथा अंकगणितीय सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत कर योग सिद्धान्तों को वैज्ञानिक शब्दावली में समझाने का सुन्दर प्रयास किया है। लेखक की शब्दावलि कुछ जटिल अवश्य हो गई है तथापि प्रत्येक शब्द के अर्थ को हृदयंगम करते हुए यदि सुधी पाठक इसे पढ़ेंगे तो उन्हें ज्ञान के क्षेत्र में एक नया आलोक मिलेगा। विद्वान पाठकों से निवेदन है कि वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें जिससे इस प्रकार के चिन्तन की समीक्षा हो सके। सं० सं]

—X❀X—

जीवात्मा की प्रामाणिक व्यापकता पाँच परिमाणों में अंकित है। प्रत्येक परिमाण अपना पृथक अस्तित्व निर्धारित किये हुए प्रतिष्ठित बना रहता है। आत्मा स्वयं में स्थित है और शेष चार परिमाण जीव की प्रतिष्ठा सन्नि-धारे रहते हैं अगर शब्द के माध्यम से इन पृथक-पृथक परिमाणों को अंकित करें तो वे इस प्रकार अंकित किये जा सकते हैं।

	(१) आत्मा स्वयं स्थित	'परे' परिमाण में
	(२) जीवात्मा स्थित (अन्तज शरीर)	'शून्य दिग्' परिमाण में
	(३) सूक्ष्म शरीर 'कारण'	'दिग् काल' परिमाण में
(आकाशीय शरीर)	(४) सूक्ष्म शरीर 'काल'	'काल देश' परिमाण में
(भौतिक शरीर)	(५) सूक्ष्म शरीर 'देश' (भौतिक शरीर)	'देश' परिमाण में

इस प्रकार जीवात्मा अपना 'स्व नाम' लिये स्थित बनी रहती है 'शून्य दिग् काल देश' में प्रत्येक भौतिक रूपाकार अपना अस्तित्व 'शून्य दिग् काल देश' में स्थित बनाये रहता है चाहे वह जड़ हो या चेतन। शृंखला बद्ध प्रत्येक 'प्रतीति' का एक क्रम होता है जो कि दृष्टा से क्रम बद्ध बनी रहती है। दृष्टा-दृश्य और वस्तु प्रतीति अन्तर्गत इस प्रकार क्रम बद्ध रहती है :—

'शून्य दिग् काल देश प्रतीत देश काल दिग् शून्य' अगर इस क्रमबद्धता की परि-माणकिता प्रदान की जाये तो इसका स्वरूप होगा।

शून्य-दिग्	दिग्-शून्य
दिग्-काल	काल दिग्
काल-देश	देश-काल
देश-प्रतीत	प्रतीत देश

इस प्रकार पाँच व्यापक परिमाण अपनी पृथक-पृथक सम्बद्धता अंकित करते हुए ९ सीमाएँ अंकित करते रहते हैं इसी लिये एक अंक की अन्तिम संख्या भी ९ ही होती है अगर हम चाहें तो इन परिमाणों की संख्या-क्रम द्वारा भी अंकित कर सकते हैं।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९

इस क्रम का प्रत्येक अंक १ शून्य के उतना ही समीप है जितना कि अन्तिम अंक ९ अपनी सम्बन्धित शून्यांकित १० अंक से। १ अंक से ९ अंक तक का क्रम द्रष्टा है, दृश्य और प्रतीत वस्तु-तीनों को ही क्रमबद्ध करती है। द्रष्टा जब बहिर्मुखी रह कर वस्तु का अवलोकन करता है तो वस्तु का शून्य दिग् काल देश सिमट कर केवल प्रतीति में रूपान्तर हो जाता है तदानुसार ६,८,७,६ अंकों का रूपान्तर केवल ५ अंक में हो जाता है जो केवल प्रतीति का द्योतक होता है। द्रष्टा की प्रतिष्ठा केवल १ अंक से ५ अंक तक विस्तृत रहती है अर्थात् शून्य दिग् काल देश प्रतीत तक।

ध्यान अपने प्रथम चरण में द्रष्टा को उससे सम्बन्धित प्रतीति से उन्मुक्त कर देता है। द्रष्टा का बाहिर्गमन विलीन होकर उसको 'प्रतीति' से मुक्त कर देता है जो उसका प्रथम बन्धन होता है। 'प्रतीत' के बन्धन से मुक्त हो द्रष्टा अपने स्वाभाविक परिमाणों में स्थित हो जाता है शून्य दिग् काल देश परिमाण में। यहीं उसके बहिर्गमन का अन्त हो जाता है परन्तु वह अब भी अपने 'देश' में स्थित रहता है। इस अवस्था में उसे अपने शरीर अपनी कर्म और ज्ञान इन्द्रियों का भान अवश्य बना रहता है—परन्तु उसमें का द्रष्टा 'प्रतीत' देश का अतिक्रमण नहीं कर पाता। ध्यान के प्रथम चरण में 'प्रतीत देश' विलीन हो जाता है। महान विचारक आइन्सटीन के शब्दों में द्रष्टा की दृष्टि से 'घटन' आलोप हो जाता है अर्थात् उसके बहिर्गमन का द्योतक 'देश काल' अपना अस्तित्व विसर्जन कर देता है। साधक के जीवन में यही ध्यान का प्रथम चरण कहलाता है ध्यान की प्रथम अवस्था-समस्त प्रतीति का विसर्जन कर साधक के मन को अन्तर्गमन के द्वार पर लाकर प्रतिष्ठित कर देती है। साधक का देश-देश में प्रतिष्ठित हो अपना स्वयं का अस्तित्व विसर्जन कर साधक केवल 'शून्य दिग् काल' में प्रतिष्ठित हो जाता है द्रष्टा की-द्रष्टा के मन की-प्रतिष्ठा ध्यान के प्रथम चरण के पश्चात् दूसरे चरण के प्रारम्भ में केवल 'शून्य दिग् काल' में रहती है देश अविस्तृत हो 'सूक्ष्म शरीर' कालान्तर काल-देश के क्षेत्र में रमण करने लगता है देशान्तर अपना अस्तित्व विसर्जन कर।

यहाँ तक जीवात्मा भौतिक प्राणों का आलिंगन कर अपना अस्तित्व धारे चलता है। श्वास, लेना और उसे बाहर निकालते रहना भौतिक प्राण का आलिंगन कहलाता है। इस

क्रिया में पूर्ण श्वास का आलिंगन कर उसमें से अंश उपयोगी को धारणा कर शेष अनुपयोगी अंश का विसर्जन कर देना पड़ता है केवल अंश ही ग्रहण हो पाता है। भौतिक प्राण के आलिंगन कर्रवाते रहने तक ध्यानस्थ मन अपना रमण केवल देशान्तर में विसर्जन कर जाता है परन्तु निरन्तर साधना रत रहने के उपरान्त भी इस सीमा का अतिक्रमण कर 'काल-देश' क्षेत्र के परे नहीं जा पाता। ध्यानस्थ मन केवल 'काल-देश' क्षेत्र में विचरण करता रहता है। भौतिक प्राण आलिंगन की यही सीमा है। इससे परे जाने के लिये जिससे ध्यानस्थ मन केवल 'शून्य दिग्' में प्रतिष्ठित हो सके 'भौतिक प्राण' को सूक्ष्म बना उस सूक्ष्म प्राण का (आलिंगन नहीं) ग्रहण करना पड़ता है। तब ही ध्यानस्थ मन 'शून्य दिग्' में पदार्पण कर 'काल' में प्रतिष्ठित हो अपने में निहित 'काल' के अंश तत्व को विसर्जन कर देता है। जिस क्रिया द्वारा भौतिक प्राण को सूक्ष्म प्राण में परिवर्तित करके उसका (आलिंगन ग्रहण नहीं) किया जाता है वह क्रिया प्राणायाम कहलाती है। जितना अधिक श्वास और निश्वास को क्रिया को सन्तुलित करके धारण किया जायेगा उतना ही अधिक भौतिक प्राण, सन्तुलित होकर दिग् में निहित सूक्ष्म प्राण का विसर्जन करना आरम्भ कर देगा जिसे साधक ग्रहण करके निरन्तर 'शून्य दिग्' में प्रतिष्ठित होता जायेगा। यह ध्यान का दूसरा चरण कहलाता है इसमें सूक्ष्म प्राण के सम्पूर्णत्व को ग्रहण करना पड़ता है। सूक्ष्म प्राण का आलिंगन करना सम्भव नहीं। आलिंगन तो केवल भौतिक प्राण का ही लिया जाता है सूक्ष्म प्राण को ग्रहण करना पड़ता है। जिस प्रकार नट एक बांस का अवलम्बन लेकर पृथ्वी से ऊपर रज्जु के आर-पार चला जाता है उस ही प्रकार काल रूपी रज्जु के आर-पार मन रूपी नट रेचक पूरक और कुम्भक प्राणायाम क्रियाओं का सन्तुलन धारण कर चला जाता है। काल का अतिक्रमण कर ध्यानस्थ मन अपने तीसरे चरण में केवल शून्य दिग् में स्थित हो जाता है।

ध्यान के प्रथम चरण में ध्यानस्थ 'मन' अपना बहिर्गमन त्यागता है और केवल अन्तर्गमन के द्वार पर स्थित होकर 'शून्य दिग् काल' में विचरण करता है। जीवात्मा को इस चरण में मन की अनुभूति होती है। ध्यान के दूसरे चरण में यही मन सूक्ष्म प्राण को ग्रहण कर अपना कालान्तर विस्तार त्याग कर 'शून्य दिग्' में स्थित होकर बुद्धि अनुरूप बन जाता है फिर मन-मन नहीं रहता बुद्धि में रूपान्तर हो जाता है। ध्यान अपने तीसरे चरण में 'शून्य दिग्' द्वार में पदार्पण कर सूक्ष्म प्राण को ग्रहण करता हुआ उसमें के केवल एक अंश को ही ग्रहण कर पाता है शेष अग्रहणित अंश का स्वतः त्याग उससे नहीं होता है क्योंकि उस समय सम्पूर्ण सूक्ष्म प्राण को ग्रहण कर सकने की

क्षमता उसमें निर्माण नहीं हो पाती। परन्तु निरन्तर साधना करते रहने क्रम में जीवात्मा सम्पूर्ण सूक्ष्म प्राण के अधिकाधिक अंश को ग्रहण करते करते एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाती है जहाँ न केवल इस सम्पूर्ण सूक्ष्म प्राण, का ग्रहण करना सम्भव हो जाता है वरन् शेष सम्पूर्ण असूक्ष्म 'शून्य' जो अग्रहणित बना रहता है उसका सम्पूर्ण त्याग भी स्वतः ही होता जाता है। ध्यानस्थ 'मन' अपना बुद्धि अनुरूप स्वरूप विसर्जित कर अब अहंकार अनुरूप होकर केवल शून्य में स्थित रह 'शून्य दिग्' क्षेत्र में गमन करता रहता है। मन और बुद्धि अपना अस्तित्व विसर्जन करके केवल अहंकार में विलीन ही नहीं हो जाते, वरन् जीवात्मा ध्यानस्थ बना रह अपने अहंकार में निहित हो 'शून्य दिग्' क्षेत्र में गमन करता है। शून्य दिग् क्षेत्र का गमन जीवात्मा की विशिष्ट स्थिति बनाए रखता है। जीव, पवित्र स्वच्छ अहंकार के क्षेत्र में गमन करता रहता है अपना 'दिग् काल देश' अस्तित्व विसर्जन कर शून्य स्थित हो केवल दिग् क्षेत्र में गमन करता रहता है शून्य स्थित होकर।

सम्पूर्ण सूक्ष्म का ग्रहण और सम्पूर्ण असूक्ष्म का त्याग करते रहने की क्षमता प्राप्त कर जीवात्मा इस क्रिया को भी त्याग कर सकने की क्षमता उत्पादन करने की साधना में रत रह निरन्तर भौतिक प्राण और सूक्ष्म प्राण दोनों को ही असाध्य मान उनका भी विसर्जन करता जाता है। उसकी प्राणायाम क्रिया अब अपनी भौतिक प्राण और सूक्ष्म प्राण उत्पादन क्रिया से भी उन्मुक्त होने लगती है श्वास और निश्वास दोनों ही क्षीण और सूक्ष्म होते जाते हैं भौतिक और सूक्ष्म प्राण दोनों अपना क्रिया-स्वरूप विसर्जन कर शुद्ध प्राण स्वरूप निखरते जाते हैं ध्यानस्थ जीवात्मा अपने में निहित अहंकार का विसर्जन अव-निर्माण नहीं करता क्योंकि इस स्थिति में उसमें विसर्जित होने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। अहंकार विसर्जित नहीं होता वरन उसका रूपान्तर हो जाता है वह अपनी विशिष्टता त्याग कर समष्टिगत 'महत्' में लीन होना आरम्भ कर देता है। जीवात्मा अपने शेष सूक्ष्म का योग में रूपान्तर कर अपना जीवत्व अपनी व्यष्टि का उत्थापन शुद्ध आत्मिक क्षेत्र में करना आरम्भ कर देती है। दिग् स्वरूपी अहंकार का क्षेत्र भी विलीन हो जाता है 'महत्' में और आत्मा अब केवल अपने शून्य स्वरूप में स्थित हो जाती है। जीवात्मा का अपने शून्य स्वरूप में स्थित हो जाना ही योग का पूर्णत्व, अथवा समाधि कहलाता है। 'ध्यान' साधना की यह अन्तिम उपलब्धि है। समाधि 'दिग काल देश' स्वरूपी समस्त अहंकार बुद्धि और मन का शून्य में विलीन हो जाना-सम-स्थित हो जाना-केन्द्र विहीन बन जाना ही ध्यान का चौथा चरण कहलाता है, जिसमें 'प्राण' अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित बना रहता है।

इस स्थिति में प्रतिष्ठित होकर आत्मा शून्यांकित प्रत्येक समत्व की धारे समाधि में लीन अहंकार शून्य अपनी शून्यांकित व्यष्टि का उत्थान समष्टिगत परमात्मा में विलीन करना आरम्भ कर देती है। आत्मा परमात्मा में उस ही प्रकार विलीन हो जाती है जिस प्रकार अहंकार समष्टिगत 'महत्' में विलीन हो जाता है। यह ध्यान का पाँचवाँ तथा अन्तिम चरण कहलाता है। इस चरण में समाधि सविकल्प न रह निर्विकल्प हो जाती है। अहंकार शून्य आत्मा प्रकृति के अन्तिम बन्धन से भी विमुक्त होकर उन्मुक्तता की दिशा में अग्रसर होती है। प्रकृति का अन्तिम बन्धन भी शिथिल होकर टूट जाता है, बिखर जाता है। जीव आत्मा उन्मुक्त हो अपना जीवत्व विसर्जन कर देती है। आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है फिर कोई भी शरीर धारण नहीं होता-पुनर्जन्म नहीं होता। जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है, परमात्मा स्वरूप बन जाता है ध्यान अपने अंतिम चरण में अपनी समस्ति केवल एक बिन्दु में रूपान्तर कर देता है एक बिन्दु बन जाता है। शून्यांकन एक बिन्दु में रूपान्तर हो जाता है केन्द्र विहीन परिधि शून्य के अनन्त बिन्दु, एक बिन्दु बन जाते हैं वही केन्द्र और वही परिधि दो विरोधात्मक पूर्णों की समस्थिति प्रेषित शून्यांकन की भी समबद्धता स्वरूप एक बिन्दु-ध्यान अपने अन्तिम चरण में केवल वही हो जाता है जो वह स्वयं होता है अर्थात् केवल प्राण।

ध्यान के ये पाँच चरण 'प्राण' के विविध स्वरूपों द्वारा अंकित किये जा सकते है। प्रथम चरण का अन्त भौतिक (स्थूल) प्राण स्वरूप-दूसरे चरण का अन्त सूक्ष्म प्राण स्वरूप, तीसरे चरण का अन्त शुद्ध प्राण स्वरूप और चौथे चरण का अन्त केवल प्राण-जो वह स्वयं है जैसा है। पाँचवें चरण का आरम्भ और अन्त नहीं। यह केवल वही रहता है जो वह स्वयं होता है।

इसी प्रकार ध्यान के विविध चरणों के उजागर होने के केन्द्र चक्र भी भिन्न-भिन्न हैं। स्थूल प्राण का केन्द्र मणिपुर चक्र, सूक्ष्म प्राण का मूलाधार चक्र, शुद्ध प्राण का क्षेत्र सुषुम्ना मूलाधार से ब्रह्म चक्र तक विस्तृत तथा अन्तिम 'प्राण' क्षेत्र, ब्रह्म चक्र से सहस्रदल चक्र तक।

—×०×—

उत्तम प्रकृति

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग।

इच्छाएँ असीम हैं

[जैन मुनि उपाध्याय श्री अमर मुनि जी महाराज]

[श्री उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज जैन जगत के सुविख्यात दार्शनिक और मनीषि लेखक हैं। प्रस्तुत लेख आपकी 'पञ्चशील' नामक पुस्तक का एक उद्धरण है जिसे हम 'सिद्धयोग' के पाठकों के लिए साभार यहाँ दे रहे हैं —सं० सं०]

—X❀X—

जीवन ससीम है। और इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और कामनाएँ अनन्त हैं, असीम हैं। समुद्र में उठने वाली जल-तरंगों की कोई गणना करना चाहे तो वह नहीं कर सकता एक जल-तरंग सागर में विलीन होती है और दूसरी तरंग तरंगित हो उठती है। उसकी परंपरा निरन्तर चालू रहती है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति आकाश को नापना चाहे तो उसके लिए ऐसा कर सकना असंभव है। क्योंकि आकाश अनन्त है, असीम है। वह लोक के आगे भी इतना फैला हुआ कि जहाँ मनुष्य तो क्या, कोई भी पदार्थ नहीं जा सकता। यही स्थिति इच्छाओं की है। मनुष्य के मन में एक के बाद दूसरी आकांक्षा की तरंग अवतरित होती रहती है। चाहे जितनी आकांक्षाएँ पूरी कर दी जायें, फिर भी उनका अन्त नहीं आता है। एक कामना के पूर्ण होते ही दूसरी कामना उदित हो जाती है और उसको पूरा करने का प्रयत्न करो, उसके पूर्व ही तीसरी कामना मन-मस्तिष्क में तरंगित हो उठती है। इसी कारण भगवान् महावीर ने कहा है—"यदि मनुष्य को कैलाश पर्वत के समान सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत भी मिल जाएँ, तब भी उसकी इच्छा का, तृष्णा का अन्त नहीं आ सकता। क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है, असीम है।"

परन्तु आवश्यकताएँ सीमित हैं। और सीमित होने के कारण उनकी पूर्ति सहज ही हो जाती है। उसके लिए मनुष्य को रात-दिन मानसिक-वैचारिक चिन्ता में व्यस्त नहीं रहना पड़ता। चौबीसों घंटे धन का ढेर लगाने की योजनायें तैयार करने में ही नहीं लगा रहना पड़ता। अतः आवश्यक पदार्थों में सन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति परिग्रह की सीमा से दूर रहता है। भले ही उसके पास बाह्य साधन कम होते हैं, परन्तु सन्तोष एवं शान्ति

का धन उसके पास अपरिमित होता है। और आचार्य शंकर के शब्दों में-"वस्तुतः सच्चा धनवान वही है, जिसे सब तरह से सन्तोष है।" क्योंकि वह धनवान की तरह असन्तोष एवं अशान्ति की आग में नहीं जलता है। वह दूसरों को ठगने की उधेड़-बुन एवं भोले लोगों को किस तरह जाल में फंसाकर या धकमा देकर उनकी जेबें कैसे खाली कराई जाएं इसके लिए नये-नये आविष्कार एवं प्लान बनाने की चिन्ताओं से मुक्त रहता है। इसलिए वह सब तरह से शान्तिमय जीवन जीता है।

अनावश्यक धन-संपत्ति एवं पदार्थों का संग्रह करना ही परिग्रह नहीं है, बल्कि अनावश्यक विचारों का संग्रह करना भी परिग्रह है। गांधी जी ने भी कहा है—'जो मनुष्य अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान ठूंस रखता है, वह भी परिग्रही है।' जैसे अनावश्यक पदार्थ मनुष्य के मन की शान्ति को भंग करते हैं, वैसे निरुपयोगी एवं निम्नस्तर के विचार भी उसकी शान्ति का अपहरण करते हैं। उसके जीवन में विकारों को जन्म देते हैं। अतः साधक को अपने दिमाग को सदा स्वस्थ रखना चाहिए। उसे व्यर्थ के कलह-कदाग्रहों एवं वासनामय विचारों के कूड़े-करकट से नहीं भरना चाहिए, क्योंकि आवश्यक पदार्थ एवं स्वस्थ, सभ्य और ऊंचे विचार ही मनुष्य की संपत्ति है। अतः इच्छाओं का परित्याग करके आवश्यकताओं को सीमित करना ही वास्तव में सच्ची संपत्ति है। क्योंकि इससे सन्तोष भाव का विकास होता है, और यही सच्चा सुख है।

आवश्यकता की पूर्ति तो हो सकती है, परन्तु कामना, इच्छा एवं आकांक्षा की पूर्ति होना कठिन है। इच्छाओं का जाल इतना उलझा हुआ है कि एक उलझन के सुलझते ही दूसरी उलझन सामने आ जाती है। उसका कभी भी अन्त नहीं होता। अतः हमें यह समझ लेना चाहिए कि आवश्यकता और चीज है और इच्छा, आसक्ति एवं आकांक्षा कुछ और चीज है। आज लोगों में परिग्रह को लेकर जो संघर्ष या विवाद चल रहा है, वह इच्छा और आवश्यकता के बीच के अन्तर को नहीं समझने के कारण ही उत्पन्न हुआ है।

समाधि साधना का बीजमन्त्र—जप

[ब्रह्मचारी डा० श्री नरेशकुमार]

(एम. ए., एम. एड., पी. एच. डी. सांख्ययोगवेदान्ताचार्य)

[विद्वान लेखक ने अपने लेख में 'समाधि की साधना का बीज मन्त्र क्या है? इस पर प्रकाश डालते हुए जप की विधि और महत्ता का विशदता से उल्लेख किया है तथा साधकों का ध्यान विशेष रूप से इस सत्य की ओर दिलाया है कि 'जप-मन्त्रों के अर्थों को जानकर अपने जीवन में उपास्य के गुणों को धारण करना भी आवश्यक है, तभी जप की साधना सार्थक बन सकेगी।' यही महर्षि पतञ्जलि के 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' सूत्र का आशय भी है। आशा है 'सिद्धयोग' के साधक पाठक जप-साधना में इस तथ्य को दृष्टि से ओझल नहीं करेंगे। —सं० सं०]

—ॐ—

'मननात् त्रायते इति मन्त्रः'

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका मनन, अर्थात् चिन्तन और भावना करने से मनुष्य का उद्धार हो जाये उसे मन्त्र कहते हैं और योग नाम चित्त की वृत्तियों को रोककर समाधिस्थ होने का है, (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—यो. सू. १।२)। इस प्रकार मन्त्र का जप चित्त की वृत्तियों को रोककर समाधिस्थ होने का सरल, सुरक्षित तथा निर्विघ्न साधन है।

भारत में पुरातन काल से ही योग-साधना की दीक्षा के रूप में गुरु मुख से मन्त्र लेने की प्रथा है तथा इस प्रकार गुरु द्वारा मन्त्र प्राप्त व्यक्ति को साधना पद्धति में प्रविष्ट समझा जाता है। इस बात से प्राचीनकाल से ही चले आ रहे इस विश्वास का आभास मिलता है कि मन्त्र जप को अध्यात्म-साधना में उत्कृष्ट स्थान है। वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण तथा महाभारतादि ग्रन्थों में शायद ही कोई ग्रन्थ मन्त्र जप की महिमा के गान से अछूता नहीं मिलता। अथर्ववेद में गायत्री मन्त्र की महिमा का निम्न शब्दों में गान किया गया है :—

ॐ स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

—अथर्ववेद १९।७१।१

उपर्युक्त मन्त्र में गायत्री को आयु, स्वास्थ्य उत्तम संतति, पुष्टिप्रद खाद्य पदार्थ, यश, धन-धान्य, ब्रह्मतेज और मोक्ष प्रदान करने वाली, बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करने वाली तथा द्विजों को प्रेरित करने वाली वेद माता कहा गया है। मनुस्मृति में ही मनुजी ने यह दावा किया है कि जो व्यक्ति प्रातः सायं अर्थ-भाव सहित एक हजार बार गायत्री मन्त्र का जप करता है वह एक महीने में ही बड़े से बड़े पाप से इसी प्रकार छूट जाता है जैसे—सांप केंचुली से छूट जाता है।

सहस्रं कृत्वस्तु अभ्यस्य,
बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्,
त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥

—मनुस्मृति २।७९

कठोपनिषद् में नचिकेता को उपदेश देते हुए आचार्य यम कहते हैं—हे नचिकेता जिस पद का सब वेद बार-बार वर्णन करते हैं, सारे तप जिसके लिए किये जाते हैं, जिसकी इच्छा करने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, मैं, उस अक्षर को तुम्हें बताता हूँ कि वह अक्षर 'ओ३म्' है। इसी का सहारा सब से श्रेष्ठ है। इसी का सहारा सब से बड़ा है। इस सहारे को जान कर मनुष्य ब्रह्मलोक में महिमा-वान हो जाता है। (कठोपनिषद् २।१५।१७)

भगवद् गीता में भी भगवान कृष्ण ने 'ओ३म्' जप के वर्णन पर अक्षर ब्रह्मयोग नामक एक पृथक अध्याय का उपदेश किया है। भगवान कृष्ण यहाँ तक कहते हैं कि जो व्यक्ति ॐ इस एक अक्षर का जप करते हुए और मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ देता है वह परम गति को प्राप्त होता है। वेदों के पढ़ने पढ़ाने अश्वमेध आदि यज्ञों के करने, तपों के तापने और दान देने आदि शुभ कर्मों से जो फल प्राप्त होता है, ॐ अक्षर को जानने वाला योगी उन सब से आगे बढ़ जाता है क्योंकि इस ॐ अक्षर का जापक योगी परमात्मा के परम स्थान में प्रतिष्ठित हो जाता है। महर्षि पतंजलि ने भी ॐ के अर्थभाव सहित जप के फलस्वरूप असंप्रज्ञात समाधि तथा उसके फल की प्राप्ति और सब प्रकार के विघ्नों की निवृत्ति होना स्वीकार किया है।

—यो० सू० । २९

अब हम मन्त्रयोग के अभ्यासात्मक स्वरूप तथा इसकी साधन प्रक्रिया पर दृष्टिपात करना आवश्यक समझते हैं।

यद्यपि वेद, पुराणादिकों में अनेकानेक प्रभावशाली मन्त्रों की चर्चा है परन्तु जप के लिए उपयुक्त थोड़े ही मन्त्र समझे जाते हैं। जपने के योग्य मन्त्रों में कुछ अधिक प्रचलित मन्त्र निम्न हैं:—

(१) ओ३म्।
(२) सोऽहम्।
(३) हरि ओ३म्।
(४) राम।
(५) ओ३म् नमो शिवाय।

(६) ओ३म् नमो नारायणाय।

(७) ओ३म् तत्त्वमसि।

(८) ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय।

(९) ओ३म् श्री राम, जय राम, जय-जय राम।

(१०) हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे।

(११) हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

(१२) ओ३म् त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।

(१३) ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात, इत्यादि।

महर्षि पतञ्जलि के अमर वाक्य यथाभिमतध्यानाद्वा, के अनुसार प्रारम्भ में उपर्युक्त मन्त्रों में से कोई भी मन्त्र अथवा अपने किसी भी आराध्यदेव का अन्य कोई मन्त्र स्वेच्छा तथा श्रद्धानुसार चुना जा सकता है अथवा किसी योगपारंगत, निःस्वार्थ पथ-प्रदर्शक के श्री मुख से लिया जा सकता है। जपों में एकाक्षरीय बीजमन्त्रों का विशेष महत्व है। यद्यपि श्रद्धा और भक्ति से किया हुआ किसी भी मन्त्र का जप समस्त वाञ्छित फलों को शीघ्रता या विलम्ब से प्राप्त करा ही देता है तो भी दीर्घकाय मन्त्रों में गायत्री जप और बीज मन्त्रों में प्रणव जप अपना जोड़ नहीं रखते। गायत्री जप से भी प्रणव जप अधिक प्रभावशाली और उत्कृष्ट है। इस विषय में बड़े-बड़े गायत्रीनिष्ठ पुरुषों में भी अन्यथा मत नहीं रखते। हाँ, गायत्री जप द्वारा वे प्रारम्भिक एकाग्रता की ओर बढ़ रहे मन को लम्बा मार्ग देने का तथा इसकी कीर्तन-उपयोगिता का तर्क अवश्य उपस्थित करते हैं। भाव यह है कि प्रणव जप में लगाये जाने पर प्रत्येक प्रणवोच्चारण के बाद मन को, जप को छोड़कर भाग खड़ा होने का अवकाश मिल जाता है किन्तु गायत्री जप में लगा मन कम से कम एक आवृत्ति के लगभग दस बारह सैकिण्ड के काल के लिए बंधा-सा जाता है। परन्तु यहाँ इतना ज्ञातव्य है कि अनेक प्रणव मन्त्रों को जोड़ कर इसके जप की आवृत्तियों को भी यथेच्छ सीमा तक लम्बा किया जा सकता है। जैसे –

'ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ' या 'ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ आदि।

इसी प्रकार इसे कीर्तनोपयोगी भी बनाया जा सकता है, जैसे—

ॐ ॐ ॐ ॐ
ॐ ॐ ॐ ॐ।
ॐ ॐ ॐ ॐ
ॐ ॐ ॐ ॐ।।

इसके विपरीत बीज मन्त्रों की ध्यानोपयोगिता तथा श्वास के साथ उन्हें संयुक्त कर अजपाजप आदि उत्तम साधनाओं की सिद्धि अधिक यथेष्ठ दीर्घ मन्त्रों से नहीं हो पाती।

मन्त्र जप यद्यपि बीसों प्रकार से किया

जाता है परन्तु इसकी विशिष्ट अवस्थाएँ तीन तीन ही है—वाचिक, उपांशु और मानसिक। वाचिक जप सब से प्रारम्भिक कोटि का है। इसमें मन्त्र को स्वर, लय और ताल के साथ जपा जाता है। जपते समय कानों की वृत्तियों को मन्त्र के एक-एक शब्द को पृथक-पृथक सुनने तथा मन को उसके अर्थ पर विचार करने में लगा दिया जाता है। लय और ताल को छोड़कर भी सस्वर जाप किया जाता है। नाम-मात्र बीज-मन्त्रों को जपते समय प्रेम भक्ति जितनी अधिक होगी जप उतनी ही शीघ्रता से फल प्रदान करेगा। अतः साधक को चाहिए कि जप करते समय ऐसी भावना करे कि यह मन्त्र ध्वनि मेरे मुख से ही नहीं निकल रही अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कण-कण से यही मन्त्र ध्वनि निकल रही है और समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणी प्रेम विह्वल होकर उस विश्व विराट परमात्मा को बारम्बार पुकार रहे हैं साथ ही साधक को मन्त्र में आये परमेश्वर के गुणों को अपने जीवन में धारण करने का सतत यत्न करना चाहिए।

जप और प्राणायाम —

सस्वर जप ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन प्रकार का होता है। प्लुत जपों में सर्वोत्कृष्ट जप प्रणवानुसन्धान जप है। इस जप में यथेष्ट आसन से बैठकर श्वास को अन्दर भरकर मुख को थोड़ा खोलकर जिह्वा और कण्ठ के सहारे सुरीली तथा एक तान ओ३म् का नाद किया जाता है। नाद की इस गुञ्जार को अधिक से अधिक लम्बा करने का यत्न किया जाता है। श्वास टूटने तक एक ही 'ओ३म् नाद' चलता रहता है। इसी प्रकार बार-बार श्वास भर कर ओ३म् नाद करते हुए नाद के समय को बढ़ाने का यत्न किया जाता है। इस विधि को प्रणवानुसन्धान जप विधि या प्रणव ध्वन्यात्मक प्राणायाम भी कहते हैं। इसके अभ्यास को क्रमशः बढ़ाते हुए १०० सैकिण्ड अथवा इससे भी अधिक नाद बढ़ाया जा सकता है। यह नाद मुख को बिना खोले हुए सानुनासिक अर्थात् नासिका के मार्ग से भी किया जा सकता है। इस विधि में किये गये नाद को 'भ्रामरी जप' या 'भ्रामरी प्राणायाम' भी कहते हैं। इस विधि से नाद करते समय नाद की मनोरम गुञ्जार में डूबकर उस पर वृत्ति मात्र से मन को बाँधने का अभ्यास करने से घण्टा, मृदंग, शंख, वंशी, वीणा, भेरी, नफीरी आदि के सदृश अनेकों प्रकार के मनोरम शब्द सुनाई पड़ने लगते हैं, जिससे योगियों को एक अवर्णनीय आनन्द और शान्ति मिलती है। वस्तुतः जप एक सूक्ष्म मानसिक साधना है जबकि प्राणायाम एक स्थूल बाहरी व्यापार है। अतः मानसिक शान्ति की दृष्टि से प्राणायाम जप का मुकाबला नहीं कर सकता। सस्वर जप का भी मनोनिग्रह की दृष्टि से प्राणायाम से अधिक महत्व है। इसी कारण हठयोग के आचार्यों ने भी रेचक, पूरक और कुम्भक काल में बीज मन्त्रों के जप का महत्व

स्वीकार किया है। ध्यानबिन्दूपनिषद् में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत जप का निम्न फल बताया है :—

ह्रस्वो दहति पापानि
दीर्घं सम्पत्प्रदोऽव्ययः।
अर्धमात्रासमायुक्तः
प्रणवो मोक्षदायकः ॥
तैलधारामिवाच्छिन्नं
दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं
यस्तं वेद स वेदवित् ॥

ओ३म् का ह्रस्व जप पापों, पातकों को दग्ध करता है, दीर्घ जप सम्पदाएँ प्राप्त करता है तथा प्लुत जप मोक्षदायक होता है। प्रणव जप की धुन वस्तुतः तेल की धारा के समान अविछिन्न एक रस तथा घण्टे के बारम्बार होने वाले एक तान नाद के समान एवं अवर्णनीय होती है। जो योगी उसे जानता है वही वेद को जानता है। वस्तुतः उपनिषदों में बहुप्रशंसित यह प्रणव जप साधना अन्य समस्त साधन-निरपेक्ष तथा समस्त ऋद्धि सिद्धियों का प्राप्त कराने वाली है। इसी के अभ्यास से कालान्तर में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि—ये आठों अंग स्वतः सिद्ध हो जाते हैं तथा इसके अभाव में ये समस्त मिलकर भी समाधि तथा आध्यात्मिक प्रकर्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है। मोक्षेच्छुकों के लिए यही सरल, सुगम तथा निश्चित फलदायक राजमार्ग है, जैसा—महाकवि भवभूति ने उत्तर रामचरितम् में कहा है कि—

इयं हि मोक्षकामानाम-
जिह्मा राजपद्धतिः ॥

अर्थात् यह मन्त्र जप ही मोक्ष के इच्छुकों के लिए सरल राजमार्ग है, क्योंकि प्रणव जप साधना में ही यह विशेषता है कि इसे किसी भी अवस्था, व्यवसाय, राष्ट्र, धर्म या योग्यता का व्यक्ति जब चाहे आरम्भ कर सकता है। यह दूसरी बात है कि इसमें पूर्ण सफलता की प्राप्ति के लिए वैराग्य, ईश्वर भक्ति, अनासक्ति आदि सद्गुणों तथा निरन्तर दीर्घकालीन साधना नितान्त अनिवार्य है।

उपांशु जप में सस्वर उच्चारण का अभाव हो जाता है परन्तु वाक् संस्थान में सूक्ष्मता से क्रिया बनी ही रहती है। जिस प्रकार होठों का हिलना आदि, पर ध्वनि इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि पास बैठे व्यक्ति को भी सुनाई नहीं पड़ती। मानसिक जप में वाक् संस्थान की क्रिया को भी रोक दिया जाता है, केवल मन द्वारा ही जप के सतत प्रवाह को बनाये रखने के लिए जप को हृदय की धड़कन अथवा श्वास-प्रश्वास आदि स्वाभाविक क्रियाओं के साथ जोड़ दिया जाता है। बीज मन्त्रों को हृदय की धड़कन तथा श्वास-प्रश्वासादि के साथ जोड़ देना अपेक्षाकृत सरल

होता है। हंसोपनिषद्, गोरक्षवचन संग्रहादि ग्रन्थों की मान्यता के अनुसार हर व्यक्ति, हर समय, जाने अथवा अनजाने में "सोऽहम्" मन्त्र का जप करता रहता है क्योंकि हमारे श्वास के अन्दर जाते समय 'सो' की ध्वनि तथा बाहर आते समय 'हम्' की ध्वनि बिना किसी प्रयत्न के सदैव गुंजित होती रहती है। इस प्रकार दिन और रात के आठ पहर में प्रत्येक व्यक्ति लगभग २१६०० बार सोऽहं का जप कर लेता है। एकान्त स्थान में बैठकर अपने श्वास-प्रश्वास के आवागमन का निरीक्षण करते हुए प्रत्येक श्वास के साथ 'ओ' और प्रत्येक प्रश्वास के साथ अनुस्वार ध्वनि को जोड़ने की साधना करने से थोड़े ही दिन में प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ 'म्' मन्त्र की भावना को जोड़ने की साधना से कालान्तर में सोऽहम् की ही तरह 'ओ३म्' शब्द के 'ओ' और 'म्' की मानसिक साधना की दृढ़भूमि हो जाती है। इस प्रकार श्वास-प्रश्वास के साथ जोड़ कर "ओ३म्" मन्त्र जप को सरलता-पूर्वक सिद्ध किया जा सकता है। ऐसे ही अन्य मन्त्रों का भी जप श्वास के माध्यम से सिद्ध किया जा सकता है। यद्यपि इसकी सिद्धि के लिए दीर्घकाल तक श्रद्धा तथा सतर्कतापूर्वक निरन्तर साधना करनी पड़ती है परन्तु सिद्धि होने पर बिना जपे ही स्वयं चलते रहने के कारण इस जप प्रक्रिया को अजपाजप कहते हैं। उपनिषदों में अजपाजप को ध्यान तथा समाधि का प्रवेश द्वार मानकर इसकी विशद महिमा गाई गई है।

जप और समाधि :

यद्यपि मानसिक प्रसन्नता निश्छलता तथा एकाग्रता के दृष्टिकोण से

एश्यञ्शृण्वन्चलन्तिष्ठन्-
श्नन्प्रलपन्स्वपन्नपि।
दैनिकं कर्म कुर्वन्च-
सर्वावस्थां मतः जपेत्॥

के अनुसार देखते-सुनते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, बोलते-सोते अथवा किसी भी दैनिक कर्म को करते समय मानसिक जप किया जा सकता है। परन्तु चित्तवृत्ति-निरोध की दृष्टि से एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगाकर जप करने का महत्व निराला ही है। वस्तुतः जप अधिकाधिक करने से 'अधिकस्याधिकं फलम्' के अनुसार अधिक और शीघ्र ही लाभ प्राप्त होता है, इसमें मतभेद को स्थान नहीं है। आसन लगाकर जप करने की अनेक विधियाँ हैं। योग का लक्ष्य चित्त की वृत्तियों को रोकना है। वृत्तियाँ पाँच हैं :

(१) प्रमाण, (२) विपर्य्य, (३) विकल्प, (४) निद्रा, (५) स्मृति।

इन्द्रियों के माध्यम से जो शब्द स्पर्शादि विषयों का ज्ञान होता है उसको यथार्थ और दोष रहित होने पर प्रमाण तथा अयथार्थ और दोषपूर्ण होने पर विपर्य्य अर्थात् अविद्या कहते हैं। विकल्प केवल शाब्दी सत्ता रखने वाले

वस्तु रहित ज्ञान को कहते हैं। साधारण अवस्था में प्रमाण, विपर्यय और विकल्प नामक इन चित्त-वृत्तियों के कार्य का मुख्य द्वार ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं। इन्द्रियों का संचालक मन है। मन के जप तथा उसके अर्थ विचार में भावना सहित निमग्न होने पर प्रेरक के अभाव में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों से उपरत हो जाती हैं। चित्त की एकाग्रता को भंग करने वाली चौथी वृत्ति स्मृति है। जप में एकतान तथा धारावाही रूप से लग जाने पर स्मृति-वृत्ति को भी संस्कारों के उत्थापनादि चित्र-विचित्र प्रपंच की रचना करने का अवसर नहीं मिल पाता। फलतः चित्त में संस्कारों की शान्तप्रवाही अवस्था का उदय होने लगता है। निरोधोन्मुख हुए ऐसे चित्त पर निद्रा सरलता से अपना प्रभाव जमा सकती है। परन्तु आसन से बैठने पर यह प्रभाव सरलता से नहीं जम पाता। यद्यपि लेटने की स्थिति में इसे रोकना आसान नहीं है। अतः जप करते समय आसन का अभ्यास आवश्यकीय है। खड़े होकर करने से थकानजन्य प्रमाद की स्थिति नहीं आ पाती तथा ध्यानजन्य शरीर से बेसुधी की अवस्था आ जाय तो गिरना अवश्यम्भावी हो जाता है। इसी विचार से याज्ञवल्क्य ब्रह्मा, पतञ्जलि, श्वेताश्वेतर आदि पुरातन योग तत्त्वज्ञ महर्षियों ने जप ध्यानादि क्रियाओं के करते समय आसन में बैठने का विधान किया था और वस्तुतः जप के लिए एक सरल तथा सुखद आसन का अभ्यास कर स्थिरतापूर्वक बैठना अनिवार्य भी है। अतः साधक को जप की सिद्धि के लिए एक आसन विशेष का अभ्यास करके उसे सिद्ध करना होता है। साथ ही जप्य मन्त्र के अर्थों को यथावत् जान कर अपने जीवन में उपास्य के गुणों को धारण करना भी आवश्यक है। तभी जप की साधना सार्थक बन सकेगी। यदि आचरण जप में निहित भावों के लिए अपेक्षित कर्मों से विपरीत होगा तो साधना समीचीन नहीं बन पड़ेगी। आचरण में आराध्यदेव के गुणों को उतारने से ही साधक उसकी उपासना का पात्र बनता है। यद्यपि जप करने से प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में चित्त में सत्त्वगुण की वृद्धि तथा रजस और तमस् का नाश होता जाता है तो भी प्रारम्भिक जप में शीघ्र सफलता प्राप्त करने के लिए मन में सत्त्वगुण को प्रधान करना आवश्यक है क्योंकि एकाग्रता, शान्ति आदि भाव सत्त्वगुण ही के धर्म हैं और सत्त्वगुण को प्रधान करने का प्रकार है सात्त्विक खान-पान, सीधा, निश्छल तथा मधुर व्यवहार तथा निर्मल आचरण।

प्रारम्भ में वाचिक जप में भी रुचि न हो तो लिखित जप भी किया जा सकता है। लिखित जप में भी रोचकता लाने के लिए प्रणव मन्त्र की अनेक सुन्दर से सुन्दर आकृतियाँ बनाई जा सकती हैं। आवश्यकता हो तो माला का प्रयोग भी किया जा सकता है। चित्त में सत्त्वगुण जितना अधिक बढ़ेगा उतना ही जप तथा ध्यानादि में अभिरुचि बढ़ेगी तथा विषयों में विरति बढ़ती जायेगी। आहारादि का शोधन कर लेने के बाद निम्न प्रकार से

जप साधना का प्रारम्भ करें।

यह बात ध्यातव्य है कि बीज मन्त्रों में 'ओ३म्' मन्त्र का तथा साधारण मन्त्रों में गायत्री का उत्कृष्ट महत्व है। तथापि गायत्री एक मेधा बुद्धि की प्राप्ति के लिए प्रार्थना है जब कि ओ३म् का जप साक्षात् ईश्वर को पुकारना है। दूसरी विशिष्ट बात यह है कि 'ॐ' अक्षर में व्यंजन वर्णों का अभाव होने से इसके मानसिक जप के द्वारा समाधि साधना करते समय वाक् संस्थान गत समस्त क्रियाएँ शान्त होकर जो स्वरूप शून्यता आ सकती है वह अन्य मन्त्रों में निहित व्यंजन वर्णों के मानसिक उच्चारण में नहीं आ पाती क्योंकि इन व्यंजनों के उच्चारण में होने वाली वाक् संस्थान की चेष्टाओं के संस्कार चित्त की उस शान्त प्रवाहिता को क्षुब्ध कर देते हैं जिस प्रकार अत्यन्त प्यारे को प्रेम भरे हृदय से निरन्तर याद किया जाता है उसी प्रकार परमात्मा के इस सर्वोपरि नाम 'ओ३म्' का निरन्तर स्मरण करना चाहिए। जप वाचिक हो उपांशु या मानसिक इसमें इतनी अवश्य ध्यातव्य है कि जप करते समय साधक को जप की प्रत्येक आवृत्ति का श्रोता बन कर श्रवण करना है। ध्यान रहे कि मन्त्र की कोई आवृत्ति उसके सुनने से रह न जाये। यदि जप की एकतान माला का एक मनका भी उसके द्वारा पृथक से सुने बिना खिसक गया तो सम्भव है कि जप की इस मानसिक ध्यान माला से बँधा हुआ मन उसको अज्ञात विषय या अज्ञात देश की यात्रा करा दे। अतः मन्त्र की प्रत्येक आवृत्ति के उच्चारण को सुनना तथा उसके श्रवणजन्य आनन्द में विभोर हुए रहना जप साधना का मूल मन्त्र है। वास्तविक जप तो वह है जिसमें जप करने के लिए कोई यत्न न करना पड़े, जप एक स्वभाव-सा ही बन जाये। यदि जप में वाणी के प्रयोग की आवश्यकता ही न रहे तथा अन्तःकरण में स्वयं ही हर समय जप की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहे, साधक केवल जप की उस एकतान धारा का सावधानी और तन्मयता से श्रवण और रसास्वादन करता जाये। यदि ऐसी अवस्था परिपक्व हो जाय तो यह स्थिति सविचार समाधि की एक उन्नततम भूमिका को प्रगट कर देती है। परन्तु अनुभव बताता है कि इस स्थिति को उत्पन्न करने के लिए सच्ची ईश्वर भक्ति और दीर्घकालीन जप साधना की आवश्यकता है। उसके लिए अनुष्ठान, पुरश्चरणादि किये जा सकते हैं। जप अनुष्ठानादि करते समय एकान्त, पवित्र और बन्द स्थान का प्रयोग करना चाहिए। शुद्ध भोजन पवित्र, नपे-तुले भोजन, मौन काष्ठमौन, अन्तर्मौन मौन तथा ब्रह्मचर्यादि व्रतों के पालन-पूर्वक जप करना ही अधिक शीघ्र फलदायी होता है। सवा लाख, सवा करोड़ मन्त्र जपादि का पुरश्चरण करते हुए मन को ऊबने से बचाने के लिए अनेक प्रकार का जप करना अच्छा है। साधारणतया जप मन्त्र में जितने

अक्षर होते हैं उसका पुरश्चरण करते समय उतने ही लाख बार जप किया जाता है। विविधता में नवीनता तथा आकर्षण सुरक्षित रहते हैं। अतः यथाभिरुचि कभी सस्वर जप, कभी लिखित जप, कभी उपांशु जप कभी मानसिक जप, कभी कभी जप संकीर्तन तथा कभी जप को ध्यान माला आदि का बीच-बीच में प्रयोग किया जा सकता है। कभी-कभी यथाशक्ति अजपाजप या माला के प्रयोग द्वारा भी जप किया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि वाल्मीकि, ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता, कबीर, नानक, तुलसी, समर्थ गुरु रामदास, तुकाराम आदि सभी सिद्ध पुरुषों ने जप के द्वारा ही अभीष्ट फल को प्राप्त किया था। निरन्तर जप करते-करते ही यह जप रूप शाब्दी धारणा ध्यान में तथा निरन्तर ध्यान करते-करते ही यह ध्यान समाधि में परिणित हो सकता है—एकाएक कभी नहीं। ऐसी ही मान्यता महाभारत में भीष्म पितामह के निम्न वाक्यों में उपलब्ध होती है :

तद्धिया ध्यायति ब्रह्म
जपन् वै संहितां हिताम्।
संन्यस्यत्यथवा तां वै
समाधौ पर्यवस्थितः॥
ध्यानमुत्पादयत्यत्र-
संहिताबलसंश्रयात्।
शुद्धात्मा तपसा दान्तो
निवृत्तद्वेष कामवान्॥
ध्यानक्रियापरो युक्तो-
ध्यानवान् ध्याननिश्चयः।
ध्याने समाधिमुत्पाद्य-
तदपि त्यजति क्रमात्॥

—महा० भा० शा० पर्व० १९६।१६ १७, २०

हित कारक मन्त्र का जप करते हुए जब साधक बुद्धि से परमात्मा का ध्यान करता है तो जप के द्वारा समर्थित होने पर ही वह जप को छोड़ देता है। पवित्रात्मा, तपोबल से जितेन्द्रिय बने हुए, राग द्वेषादि विकारों से रहित योगीजन मन्त्र जप की शक्ति के प्रभाव से ध्यान की स्थिति उत्पन्न कर लेते हैं। पुनः ध्यान की क्रिया से योग युक्त हुए ज्ञानी पुरुष निरन्तर ध्यान शक्ति से समाधि को प्राप्त करके कालान्तर में उसे भी त्याग देते हैं। भाव यही है कि निरन्तर जपरूपी शाब्दी धारणा का अभ्यास करते-करते जप प्रगाढ़ होकर ध्यान में बदल जाता है। निरन्तर ध्यानरूप मानसिक जप का अभ्यास करते-करते ध्यान परिपक्व होकर समाधि में परिणित हो जाता है तथा जपजन्य समाधि के निरन्तर अभ्यास से योगी लोग ऋतम्भरा प्रज्ञा और मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अतः समाधिरूपी महा वृक्ष का एकमात्र बीज जप ही है। इसी प्रकार योग सूत्रों में पतञ्जलि ने भी—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

—योग सूत्र १।२७-२९

उस ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव है। साधक को उसी का जप और उसी के अर्थ की भावना करनी चाहिए। इस अर्थ भावना सहित जप से योगी को परमात्मा का साक्षात्कार होता है तथा व्याधि आदि समस्त अन्तराय लुप्त हो जाते हैं। अन्यत्र भी सूत्रों में पतञ्जलि के 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इन वचनों से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि समाधि की सिद्धि योगियों को ईश्वरप्रणिधानरूप प्रणव जप से ही होती है। प्रणव जप साधना का प्रभाव देखते हुए न केवल उपनिषदों तथा पातञ्जल योग परम्परा के आचार्यों ने अपितु गोरखनाथ जैसे हठयोगाचार्यों ने जप की महिमा गाई है —

वचसा तज्जपेद्बीजं

वपुसा तत्समभ्यसेत् ।

मनसा तत्स्मरेन्नित्यं

तत्परं ज्योतिरोमिति ॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि

यो जपेत्प्रणवं सदा ।

न स लिप्यति पापेन

पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

—गो० सं० १।८७, ८८

वाणी से प्रणव (ओंकार) का जप करें। शरीर से उस जप के अनुकूल आचरण करे तथा मन से उस परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म का नित्य-प्रति ध्यान करे। शरीर से पवित्र हो या अपवित्र फिर भी प्रणव का जप करता है, वह पाप से इसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार पुष्प जल से लिप्त नहीं होता।

प्रणव जप और धारणा ध्यान समाधि—

महर्षि श्वेताश्वेतर लिखते हैं कि साधक अपने शरीर को नीचे की अरणि बनावे और प्रणव को ऊपर की अरणि तथा ध्यान रूप रगड़ के माध्यम से लकड़ी में छिपी आग के समान हृदय गुफा में छिपे हुए परमात्मदेव को देखे। उपर्युक्त साधना की क्रियात्मक विधि जैसी योगीजनों में प्रचलित है साधकों के हितार्थ लेखबद्ध करते हैं। एकान्त शुद्ध देश में आकर आसन लगाकर बैठ जावे तथा आत्मा का चिन्तन करके मन को भ्रूओं में मध्यस्थित आज्ञाचक्र पर रखकर वहीं मानसिक भावना से ओ३म् का उच्चारण करता जावे तथा भावना की शलाका से प्रतिक्षण स्वर्णिम अथवा शुभ्रवर्ण का 'ओ३म्' अक्षर वहाँ लिखता जाये तथा यह भावना करे कि प्रतिक्षण होने वाला 'ओ३म्', का उच्चारण उस पूर्वलिखित ओ३म् अक्षर को पुनरपि स्पष्ट और सतेज कर रहा है। इस प्रकार प्रतिक्षण ध्यान की शलाका को बारम्बार फेरता जावे तथा ओ३म् अक्षर को मिटने न दें। भ्रूमध्य भाग में ही कल्पना द्वारा प्रकाश को देखने का यत्न करे अर्थात् ऐसी भावना करें कि वहीं पर एक प्रकाश धीरे-धीरे प्रगट हो रहा है। चाहे वह प्रारम्भ में बिन्दु के समान बिल्कुल छोटा-सा प्रकाश ही हो, इस प्रकार जप द्वारा ध्यान

करने से अपनी लगन, उत्साह इच्छा और मनोनिग्रह के अनुपात से कुछ दिन, कुछ सप्ताह अथवा कुछ मास में साधकों को अवश्यमेव वहाँ प्रकाश दीखने लगता है। एक बार आने के बाद वहाँ पर रंग बदल कर अनेक रंगों के लाल, पीले, नीले, हरे, श्वेत, आदि अनेक प्रकार के प्रकाश रंग बदल-बदल कर आने लगते हैं। अभ्यास परिपक्व होने पर रंग लुप्त हो जाते हैं तथा विद्युत दीप के समान स्वच्छ शुभ्र और सतेज प्रकाश दिखाई पड़ते हैं जो धारणा शक्ति से अधिकारपूर्वक ठहरने लगते हैं। महाभारत में नारद को हुए नारायणीय प्रकाश-दर्शन के प्रसंग में इन्हीं प्रकाशों का वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है:—

किंचिच्चन्द्राद् विशुद्धात्मा
किंचिच्चन्द्राद् विशेषवान् ।
कृशानुवर्णः किंचिच्च
किंचिद्धिष्ण्याकृतिः प्रभुः ॥
शुकपत्रनिभः किंचित्
किंचित्स्फटिकसन्निभः ।
नीलाञ्जनचयप्रख्यो
जात रूपप्रभः क्वचित् ॥
प्रवालांकुरवर्णश्च
श्वेतवर्णस्तथा क्वचित् ।
क्वचित् सुवर्णवर्णाभो
वैदूर्यसदृशः क्वचित् ॥
नीलवैदूर्य सदृश
इन्द्रनील निभः क्वचित् ।
मयूरग्रीववर्णाभो
मुक्ताहारनिभः क्वचित् ॥

—म० भा० शा० प० ३३९।२-५

उनका स्वरूप कुछ चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल कुछ चन्द्रमा से भी विलक्षण था। कुछ अग्नि के समान देदीप्यमान और कुछ नक्षत्रों के समान प्रकाशमान था। कुछ तोते की पंख के समान हरा, कुछ स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल, कहीं से कज्जल राशि के समान काला और कहीं स्वर्ण के समान कान्तिमान था। कहीं नवांकुरित पल्लव के समान कहीं श्वेत वर्ण दिखाई देता था, कहीं सुनहरी आभा थी और कहीं वैदूर्यमणि की सी कान्ति दृष्टिगोचर होती थी। श्वेताश्वतर ऋषि ने ध्यान में दीख पड़ने वाले इन प्रकाशों को कुहर, धूआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिकमणि आदिकों के समान रूप वाले तथा परमेश्वर की अभिव्यक्ति के अग्रदूतों के रूप में स्वीकार किया है। हठयोग के आचार्य गोरखनाथ ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति के द्वितीयोपदेश में इन प्रकाशों को कृष्ण, पीत, अरुण, श्वेत तथा दीप, विद्युत, चांदनी, सूर्यादि के प्रकाश के समान माना है।

इन प्रकाशों की प्रगटता और सुदीप्ति के बाद जप की श्वासमाला का अभ्यास किया जाता है। तदनुसार श्वास के अन्दर जाते समय ऐसी भावना की जाती है कि अन्दर

आने वाला श्वास प्रकाश की इन किरणों को आज्ञाचक्र से ऊपर उठाकर क्रमशः ब्रह्मरन्ध्र, विशुद्धि, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान से होता हुआ छठवें स्थान में स्थित मूलाधार चक्र तक ले जा रहा है। वहाँ पर एक त्रिकोणाकृति यज्ञकुण्ड के समान सुदीप्त स्थान है। 'ओ३म्' की मानसिक ध्वनि के साथ इस यज्ञकुण्ड में प्रविष्ट हुआ श्वास कुण्ड में जल रही अग्नि की शिखाओं को उभार रहा है। पुनः मूलाधार से उठा प्रश्वास ओ३म् की मानसिक ध्वनि की गुञ्जार को उभारता हुआ तथा इस कुण्ड की ज्वालाओं को और भी प्रदीप्त करता हुआ मार्ग में स्थित स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, ब्रह्मरन्ध्र में होता हुआ आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) की ओर आकर नासा द्वारों से बाहर निकल रहा है।

प्रश्वास के साथ ऊपर उठी हुई कोई शक्ति सुषुम्ना का द्वार खोलकर अन्दर हुई तथा अन्य सभी चक्रों को अपने प्रभाव से अधोमुख से ऊर्ध्वमुख बनाती हुई प्रबलतम वेग से ब्रह्मरन्ध्र तक जा रही है। इसी प्रकार प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के आज्ञाचक्र में स्थित इस प्रकाश दीप शिखा को अन्य छहों चक्रों में स्थित दीपकों तक ले जाते हुए तथा मनोभावना की प्रबलता से उन प्रकाश-दीपों को भी पुनः पुनः जलाते हुए ओ३म् के मानसिक जप की गुञ्जार के रसास्वादन में समाहित हो जावें। जप की यह ध्यानमाला तब तक चालू ही रखनी पड़ती है जब तक कि यह साकार न हो जावे अर्थात् इसके प्रकाश से मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक अन्य सभी चक्र विद्युत् दीपकों की भांति जगमगा न उठें और साथ ही प्रत्येक प्रश्वास के द्वारा हो रहे 'ओ३म्' के प्रबल नाद से सुषुम्ना के अधोभाग से उठी हुई कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के द्वार तथा अन्य सभी चक्रों को बलपूर्वक खोलती ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचकर स्थिर न हो जावे। इस भूमि के परिपक्व होने पर योगियों को एक आनन्दमयी सहज समाधि की योग्यता प्राप्त हो जाती है जिसके आनन्द का पारावार नहीं है। इस अवस्था को प्राप्त योगी सांसारिक कार्यों में लगा होने पर भी मन से सर्वथा अनासक्त और निर्लिप्त हो जाता है तथा अपने जीवन में आचार्य यम के इन शब्दों को साकार हुआ देखता है:

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म
एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा
यो यदिच्छति तस्य तत्॥

निश्चय से यह 'ओ३म्' अक्षर ही ब्रह्म है। यह "ओ३म्" अक्षर ही सबसे बड़ा है, इसी अक्षर को जान लेने पर जो कोई जिसकी भी इच्छा करता है वही उसे ही प्राप्त हो जाता है। भाव यह है कि इस 'ओ३म्' अक्षर में ऐसी विचित्र दैवी-शक्ति है कि इसके जप

को अर्थ-ज्ञान सहित सिद्ध कर लेने पर मनुष्य जो भी इच्छा करता है, उस इच्छा को पूर्ण करने के लिए ईश्वर की प्रेरणा से आप से आप सब साधन बनते चले जाते हैं। भगवती प्रकृति उसका साधन आगे से आगे जुटा देती है। पग-पग पर इस प्रकार कामना पूर्ति के लिए होने वाले चमत्कारों को देखकर वह विचारशील साधक अन्त में समस्त कामनाओं से विरक्त होकर, जब कामनाएँ ही करना बन्द कर देता है, तब समस्त लौकिक एवं दैवी भोगों से विरत हुआ वह योगी मोक्ष कथित अमृत भोग का भागी बन जाता है। अतः भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति के लिए यह प्रणवाक्षर जप, सरल, सुरक्षित और अचूक साधन है जैसा कि कहा भी है—

ओंकारं बिंदुसंयुक्तं
सदा ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव
ओंकाराय नमो नमः॥

बिन्दुयुक्त ॐ की योगी लोग सदा ही उपासना करते हैं। समस्त इच्छाओं की पूर्ति और मोक्ष की सिद्धि प्रदान करने वाले ओंकार को बारम्बार प्रणाम हो।

(पृष्ठ १२ का शेष)

स्वाध्याय करते-करते जब ओमाकार वृत्ति होकर निद्रा आती है उस समय सात्त्विकी नींद होने से क्लेश नष्ट होकर शरीर और मन हल्का तथा उत्साह युक्त होता है। तामसी और राजसी वृत्तियों के साथ इन दोनों प्रकार की नींद वाला चित्त भ्रम, दुःख तथा मूढ़ता का अनुभव कर दुःख पाता है। भोजन भजन और निद्रा एकाग्रता में प्रभु में पूर्ण समर्पण भाव से होने पर वृत्ति सविचार संप्रज्ञात समाधि की ओर अग्रसर होने लगती है। तम और रज की वृत्तियों को ध्यान योग के द्वारा सूक्ष्म किया जाता है। महर्षि पतंजलि ने कहा है—ध्यान-हेयास्तद्वृत्तयः। जब सुषुप्ति अवस्था अथवा सात्विक तमयुक्त चित्त की स्वप्नावस्था का साधक जाग्रत अवस्था में पुनः पुनः स्मरण करता है तो उसका चित्त एकाग्र होने लगता है। समाधि पाद के ३८ वें सूत्र में चित्त को एकाग्र करने के साधनों के क्रम में स्वप्न ज्ञान और निद्रा ज्ञान को भी सहायक माना है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा॥

सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि यदि स्वप्न में हमें देव दर्शन हुए या सात्विक नींद सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव हुआ तो उस सुख का बार-बार स्मरण करने तथा उस स्वप्न का आलम्बन करने पर चित्त में आह्लाद उत्पन्न होता है। 'प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते' इस गीता के नियमानुसार प्रसन्नचित्त होने से बुद्धि एकाग्र होजाती है। योगी निद्रा में भी जाग्रत के समान अनुभव प्राप्त करता है और अपने संस्कारों को भोगकर संप्रज्ञात समाधि में सिद्धि प्राप्त करता है। सन्त लोग इसीलिए कहते हैं कि सोने से पहले हरि का नाम लेकर सोना चाहिए तथा 'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' मन्त्र का जप करते-करते सोने से कभी बुरे स्वप्न नहीं आते। जो शरीर से कठोर श्रम और मन में परोपकार की भावना रखते हैं, ईश्वर के चरणों में जिनकी वृत्ति लगी रहती है, वे धन्य हैं। उन्हें ही निद्रा में समाधि का सुख मिल पाता है।

—:०:—

शंकर-कीर्तन

[कविता कामिनी-कान्त महाकवि शंकर]

[१]

हे शंकर कूटस्थ अकर्त्ता, तू अजरामर अत्ता है,
तेरी परम शुद्ध सत्ता की सीमारहित महत्ता है,
जड़ से और जीव से न्यारा जिसने तुझको जाना है,
उस योगीश महाभागी ने पकड़ा ठीक ठिकाना है।

[२]

हे अद्वैत, अनादि, अजन्मा, तू हम सबका स्वामी है,
सर्वाधार, विशुद्ध, विधाता, अविचल अन्तर्यामी है,
भक्ति-भावना की ध्रुवता से जो तुझ को अपनाता है,
वह विद्वान, विवेकी, योगी, मनमाना सुख पाता है।

[३]

हे आदित्य, देव, अविनाशी, तू करतार हमारा है,
तेजोराशि, अखण्ड प्रतापी, सबका पालन हारा है,
जो धर ध्यान धारणा तेरी प्रेम-भाव में भरता है,
तू उसके मस्तिष्क-कोष में ज्ञान-उजाला करता है।

[४]

हे निर्लेप निरञ्जन, प्यारे तू सब कहीं न पाता है,
सब में पाता है पर सारा सब में नहीं समाता है,
जो संसार-रूप रचना में ब्रह्म-भावना रखता है,
वह तेरे निर्भेद भाव का पूरा स्वाद न चखता है।

[५]

हे भूतेश महाबल धारी, तू सब संकट-हारी है,
तेरी मंगलमूलक दया का जीव-पुंज अधिकारी है,

धर्म धार जो प्राणी तुझ से पूरी लगन लगाता है,
चिंता, फल देता है उसको, भ्रम का भूत भगाता है।

[६]

हे आनन्द महासुख दाता, तू त्रिभुवन का त्राता है,
मुझको, माता, पिता हमारा, मित्र, सहायक, भ्राता है,
जो सब छोड़ एक तेरा ही, नाम निरन्तर लेता है,
तू उस प्रेमाधार पुत्र को, मन्त्र, बोध, बल देता है।

[७]

हे बुध, जातवेद, विज्ञानी, तू वैदिक बल दाता है,
कर्मोपासन, ज्ञान इन्हीं से जीवन जीव बिताता है,
जो समीपता पाकर तेरी जो कुछ जी में भरता है,
अर्थ समझ लेता है जैसा वह वैसा ही करता है।

[८]

हे करुणासागर के स्वामी, तू तारक पद पाता है,
अपने प्रिय भक्तों का बेड़ा पल में पार लगाता है,
तेरी पारहीन प्रभुता से जिसका जी भर आता है,
वह योगी संसार-सिन्धु को मोह त्याग तर जाता है।

[९]

हे सर्वज्ञ, सुबोध-बिहारी, तू अनुपम, विज्ञानी है,
तेरी महिमा गुरुलोगों ने वचनातीत बखानी है,
जिसने तू जाना जीवन को संयम-रस में साना है,
उस संन्यासी ने अपने को सिद्ध मनोरथ माना है।

[१०]

हे सुविश्वकर्मा, शिव, स्रष्टा, तू कब ठाली रहता है,
निर्विराम तेरी रचना का, स्रोत सदा से बहता है,
जो आलस्य विसार विवेकी, तेरे घाट उतरता है,
उस उद्योगशील के द्वारा सारा देश सुधरता है।

—×०×—

सिद्धि-योगी स्वामी रामतीर्थ

(श्री प्रबोधचन्द्र चतुर्वेदी, १६ ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद)

समाधि में पहुँचे हुए योगी की प्रतिभा में ऐसी अलौकिक शक्ति का आविर्भाव हो जाता है कि उसका सब ध्येयाकार ब्रह्म रूप हो जाता है। जिस प्रकार लोहे के अग्नि में पड़ने से अग्नि का गुण ताप लोहे में आ जाता है उसी प्रकार योगी की सर्वव्यापी चेतन शक्ति से अभेद होने से उसकी विचित्र शक्ति उसमें क्यों न आवेगी? इस सन्दर्भ में स्वामी राम की यौगिक शक्ति उल्लेखनीय है।

एक बार स्वामी राम अपने शिष्यों के साथ आबू पहाड़ पर अपनी आत्म विभोर सहज समाधि में विचर रहे थे कि पानी की बूँदें आ गईं। लोग बोल उठे अब क्या होगा, सब भीग जावेंगे। उस मस्ती में स्वामी राम ने कहा "ठहर जाओ प्यारी बूँदें ठहर जाओ, राम के हुक्म से।" कहते हैं कि तत्काल बूँदें रुक गयीं। एक भी बूँद भूमि पर न गिरी। स्वामी राम की सहज समाधी अवस्था रहती थी। एक बार वे अमरीका में कह रहे थे "मैं-तू" का झमेला समाप्त होने पर फिर एक राम ही राम रह जाता है। वह राम सर्व-शक्ति सम्पन्न होता है। सभा में एक ना समझ बोल उठा "राम इतना शक्तिमान है तो इस लड़की का लड़का बना दे।" स्वामी राम की दृष्टि लड़की पर पड़ी और वे बोले "इसे लड़की कौन कहता है। यह लड़की नहीं लड़का ही है।" सबने आश्चर्य से देखा लड़की की सूरत लड़के की हो गयी।

स्वामी राम पहली बार जब अमरीका गये तो वहाँ लोगों ने कहा आप विज्ञापन छपाकर प्रचार करें तब लोग आपको सुनने आसकेंगे। स्वामीजी बोले—मैं विज्ञापन नहीं छपवाता। आप अपने शहर के प्रसिद्ध डाक्टरों को मेरे पास भेजें और वे डाक्टर ही मेरा विज्ञापन वितरण करेंगे। डाक्टर एकत्रित हुए। स्वामी राम ने अपने शरीर को योग विद्या द्वारा मृतप्राय कर दिया। अमरीका के उन सब बड़े डाक्टरों ने उनके शरीर की पूरी जाँच करके उनको एकदम मृतक घोषित कर दिया। दिल की धड़कन और नाड़ियों का स्पन्दन बिलकुल शान्त हो चुका था। लेकिन कुछ समय बाद जब वे पुनः सामान्य अवस्था में आये तो डाक्टरों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

स्वामी राम ने समझाया "यही भारतीय योग विद्या है। इसी योग विद्या के कारण भारतीय धर्म और संस्कृति जगद्गुरु के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने बताया कि इस विद्या के रचना करते समय की अवस्था में देहाध्यास, परिच्छिन्न भावना और आत्माभिमान नितान्त

मुग्ध था।" इस प्रकार स्वामी राम ने हमारी योग विद्या को जीवन में चरितार्थ कर संसार को चकित कर दिया और विदेशों में भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता का प्रत्यक्ष बोध करके दिखा दिया। आज विदेशी इस विद्या की तरफ बड़ी तत्परता से झुक रहे हैं। भारत-वासियों को चाहिए कि अपनी इस विद्या का अभ्यास करके जीवन सफल बनावें और योग-योगेश्वर चन्द्रमोहन जी महाराज के संरक्षण में सिद्धि गुफा सवाई में स्थापित योगाश्रम से लाभ उठावें।

—:०-०:—

गीत

[श्री सन्तोषकुमार गौड़, कानपुर]

—: × × : -

छोड़कर त्याग तपस्या की महकती क्यारी,
लोभ और मोह को सीने से लगाया हमने।

भूलकर पाप की पहनी हुई जंजीरों को,
देखते ही रहे हम आपकी तस्वीरों को।
इस तरह एक जनम और गँवाया हमने!...

दिल में एहसास हो गर उनसे निभाने के लिए,
सिर्फ दो फूल ही काफी हैं चढ़ाने के लिये।
दिल में कब प्रेम का एक दीप जलाया हमने?...

ऐशो-इशरत से न जीने की तबियत माँगो,
माँगने वालो कभी उनकी मुहब्बत माँगो।
कामनाओं से न दामन को बचाया हमने!...

छोड़कर त्याग तपस्या की महती क्यारी,
लोभ और मोह को सीने से लगाया हमने!

सती का शाप

[प्रेषक-सुश्री उमा शर्मा बी. ए.]

—X◈X—

[सुश्री उमा शर्मा ने श्री रामेश्वरदास टाटिया का लेख उद्धृत करके सतीत्व की शक्ति पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है, आशा है इस शक्ति की ओर नारी जाति का ध्यान जायगा। सं० स०]

वाराणसी से प्रकाशित होने वाले 'आज सांय समाचार' साप्ताहिक पत्र में श्री रामेश्वर दास टाटिया के द्वारा लिखा 'सती का शाप' नाम का लेख प्रकाशित हुआ है यह लेख लेखक की एक यात्रा का वर्णन है। जब लेखक महोदय सौराष्ट्र प्रान्त की यात्रा कर रहे थे तब वे वहाँ के ऐतिहासिक नगर और किसी समय की गुर्जर देश की राजधानी अहिलवाड पाटन भी गये। वहाँ के यात्रा स्थलों का वर्णन बहुत ही शिक्षा प्रद एवं कल्याणकारी है। 'सिद्धयोग' के पाठकों की सेवा में इसे ज्यों का त्यों प्रेषित कर रही हूँ। लेख में वर्णित सतियों की महिमा को समझ कर हमारी बहिनें उससे लाभ उठाने की चेष्टा करेंगी ऐसी आशा है।

आज से बारह सौ वर्ष पहले यह बहुत बड़ा और भव्य शहर रहा होगा। परन्तु इस समय तो टूटे-फूटे खण्डहर पुराने मन्दिर और कुए बावड़ी ही यहां बच गये हैं। अधिकांश पाटनवासी रोजगार धन्धे के लिए अहमदाबाद सूरत और बड़ोदा की तरफ चले गये हैं। इसलिए अब यह एक छोटा सा कस्बा मात्र रह गया है। मुन्शी जी के 'पाटन के प्रभुत्व' और गुजरात के नाथ के कोट्याधीश सेठ सज्जन मेहता और मुन्जाल मेहता के महल भी बड़े भयावने खण्डहरों में बदल गये हैं। वहाँ पर जाने वाले पर्यटकों को एक विशाल तालाब अवश्य दिखाया जाता है। इसके चारों तरफ पक्का पुश्ता बँधा हुआ है चार बड़ी-बड़ी कलात्मक मकराने की पत्थरों की छतरियां हैं। घाटों का कोंडिया जैसलमेर के लाल-पीले पत्थरों से मढ़ी हुई है। वर्षा का मौसम था किन्तु तालाब में पानी बिलकुल भी नहीं था। कुछ गाय भैंसे चारों तरफ घूम फिर रही थीं।

मैंने गाइड से इसके बारे में पूछा तो वह कुछ उदासी भरे लहजे में कहने लगा कि यही दिखाने के लिए तो मैं आपको यहाँ लाया हूँ।

इस तालाब के चारों तरफ दूर-दूर तक कंकरीला मैदान है। इसीलिए वर्षा के दिनों में इसमें अथाह पानी आता है किन्तु थोड़ी देर में ही सारा का सारा सूख जाता है। बड़े-बड़े इन्जीनियरों ने इसकी जांच की, पेंदे में बहुत सी सीमेन्ट की ढलाई की मजबूत पत्थर जड़े

गये किन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ। हमारे यहाँ इसका नाम शापित तालाब है इसके पीछे एक ऐतिहासिक कथा है। जो इस प्रकार है—

आज से ८५० वर्ष पहले गुजरात में प्रसिद्ध राजा सिद्धराज जयसिंह का राज्य था। वे अपने शौर्य और दानशीलता में प्रसिद्ध थे। मुञ्जाल मेहता जैसा उनका प्रधान मन्त्री था। काक भट्ट जैसा योद्धा था सेनापति। एक से लेकर ग्यारह ध्वजा वाले यहाँ कई एक सेठ थे। (एक ध्वजा एक करोड़ रुपये की प्रतीक थी)

जब जयसिंह छोटा सा बच्चा था तभी उसके पिता कर्णदेव का देहान्त हो गया। माता मीनलदेवी अत्यन्त चतुर, विदुषी परन्तु दुर्बल थीं। उनके कड़े नियन्त्रण में रहकर जयसिंह अपने समय का प्रसिद्ध युद्ध-विशारद हुआ। गुजरात के नाथ के सिवाय उसे सिद्ध-राज भी कहा जाने लगा। पाटन की प्रभुता गुजरात के सिवाय अन्य दूसरे प्रान्तों में फैल गई। कहा जाता है कि रुके हुए पानी का बाँध जब टूट जाता है तो वह अत्यन्त वेग से बह चलता है। किसी भी अवरोध या अटक की परवाह नहीं करता, कुछ ऐसा ही मीनल-देवी के देहान्त के बाद हुआ। सिद्धराज जयसिंह के रनिवास में बहुत सी सुन्दर नारियाँ और दासियाँ थीं, परन्तु उसके मुसाहिब नित-नई सुन्दरियों की खोज में रहते थे। आयु के साथ-साथ राजा की काम लिप्सा बढ़ती जा रही थी।

जूनागढ़ का राजा राखेंगार उस समय का अद्भुत वीर था। उसका किला पश्चिम भारत ही में नहीं बल्कि देश के इने-गिने किलों में से था। उसकी रानी का नाम था राणकदेवी, जो अपनी सुन्दरता और शाली-नता के लिए देशभर में प्रसिद्ध थी। दूर-दूर के लोग उसका दर्शन करने को जूनागढ़ में आते थे।

जयसिंह उससे विवाह करना चाहता था। परन्तु वह हृदय से राखेंगार को चाहती थी। जयसिंह के कड़े विरोध की बिना परवाह किये राखेंगार उसके साथ विवाह करके जूनागढ़ ले गया। मन्त्रियों-सभासदों और सेनापतियों के बावजूद जयसिंह ने एक बड़ी फौज लेकर जूनागढ़ के किले को घेर लिया। जब बहुत दिनों तक सफलता नहीं मिली और उसकी फौज थकने लगी तो राखेंगार की सेना के किसी अधिकारी को घूस देकर सुरंग के गुप्त रास्ते से किला फतह कर लिया गया। राखेंगार दूसरे साथियों के साथ जूझता हुआ बहादुरी के साथ मारा गया। जिस समय जयसिंह राणक देवी से मिलने को आतुर किले में पहुँचा तो वहाँ के महल के एक कोने में उस सती के जले हुए शरीर की राख की ढेरी मात्र बची थी। पैरों में महावर लगाकर और सोलह श्रृंगार करके सती अपने पति के सिर को गोद में लेकर भस्म हुई थी। उसके पैरों के निशान को आज तक हजारों लाखों सधवा और कुमारी कन्यायें पूजती हैं। मैंने जूनागढ़ में राणक देवी का महल देखा और वह स्थान भी देखा जहाँ

वह सती हुई थी। आज तक गुजरात, सौराष्ट्र और राजस्थान में उसके नाम के गीत गाये जाते हैं। कामी और क्रोधी की विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है। सोलंकाराज सिद्धराज जयसिंह और भी ज्यादा क्रूर और कामुक हो गया। रात में प्रजा की बहिन-बेटियों को फुसला कर धमका कर महल में बुलाने लगा। पाटन में उसने अपने नाम पर एक बहुत बड़ा तालाब खुदाना शुरू किया। हजारों मजदूर-मजदूरनी माटी खोदने और ढोने के काम में लगे थे। राजा बीच-बीच में स्वयं वहाँ चला जाता था। एक दिन उसने देखा कि दो चार मजदूर स्त्रियाँ मिट्टी की कठौती लिए चुहल करती आ रही हैं। इनमें से एक सुन्दरी पर उसकी नजर टिक गई। यद्यपि उसके महल में देश भर की चुनी हुई सुन्दरियां थीं। जिन्हें नाना प्रकार के उबटन और शृंगार से और ज्यादा मोहक बनाने के प्रयत्न होते रहते थे। परन्तु उस मिट्टी से सने चेहरे के पवित्र सौन्दर्य और कड़ी मेहनत से सने हुए सुडौल शरीर वाली गरीब युवती के वे सब पासंग में ठहरने लायक नहीं थीं। राजा ने पता लगाया कि उसका नाम नाम जसमो है। उसका पति टीकू भी उसी तालाब पर मजदूरी करता है। वे लोग दूसरे ओड़ो (मिट्टी खोदने वालों की जाति) के साथ पश्चिमी राजस्थान से मजदूरी के लिए यहाँ आये हैं।

दूसरे दिन टीकू को बुलाकर मजदूरों का सरदार बना दिया गया। मजदूरी दो पैसे प्रति दिन की जगह १० पैसे मिलने लगी। उस समय एक पैसे में पांच सेर अनाज मिलता था। काम भी केवल दूसरे मजदूरों को सम्हाल रखना ही था। रहने के लिए तालाब के पास ही एक अलग झोंपड़ा मिल गया।

राजा के मुसाहिब जसमो के लिए कुछ न कुछ भेंट सौगात लाने लगे।

वे बेचारे देहाती इन सब कुचालों को क्या समझते। उन्हें लगा कि परमात्मा ने उनके कष्ट के दिन दूर कर दिये। कमाई में से बचाकर कुछ अपने वृद्ध माता-पिता को भेज सकेंगे।

एक दिन राजा के यहाँ से एक दासी आई। टिकू से कहने लगी कि महाराजा के महल में एक दासी की आवश्यकता है। जसमो को यह काम मिल सकता है। दस पैसे रोजाना मेहनताना के सिवाय रोटी कपड़ा भी मिलेगा।

टिकू तो राजी हो गया, सोचा, बेचारी सारे दिन कड़ी मेहनत से थक जाती है। वहां आराम से रहेगी। परन्तु न जाने क्यों जसमो के मन में कुछ अशुभ का आभास हुआ उसने पति के पास रहकर मिट्टी ढोने का काम ही करना चाहा, पर भला पानी में रहकर मगरमच्छ से वैर कैसे निभता!

दो तीन बाद राजा के सिपाही आकर टिकू और जसमो को पकड़कर महल में ले गये। पहले तो दोनों को हर प्रकार अलग-अलग समझाया गया। नाना प्रकार के प्रलोभन दिये गये। परन्तु जब वे किसी प्रकार राजी न हुए तो राजा को क्रोध आ गया।

और उसने टिक्कू को जनता के सामने खड़ा करके कोड़े मारने की आज्ञा दी। कोड़ों की मार से टीकू लहू लुहान होकर बेहोशी में एक तरफ लुढ़क गया। मुँह से खून आता देखकर सबको मैं समझा यह मर गया है।

घर से आते समय वह अपनी चोली में एक तेज कटार ले गई थी उसे छाती में भोंकते हुए कहा कि हे दुष्ट कामी राजा यदि मैं मन-वचन और कर्म से पतिव्रता हूँ तो तुझे श्राप देती हूँ कि तेरे इस बड़े तालाब में एक घड़ा पानी नहीं ठहरेगा। चाहे कितनी ही वर्षा हो। लोग जब इस सुन्दर और बड़े तालाब को सूखा देखेंगे तो तेरे इस दुष्कर्म को याद करके युग-युग तक तुझे श्राप देते रहेंगे। यही नहीं तेरे इस बड़े राज्य को भोगने वाला वंशधर भी नहीं पैदा होगा।

सती के दोनों श्राप सत्य हुए। जयसिंह को पुत्र नहीं हुआ। उसका राज्य उसके प्रतिद्वन्दी के पुत्र कुमारपाल को मिला।

—

क्या शिव प्रारम्भ में द्रविड़ों के देवता थे ? नहीं।

[साहित्याचार्य स्व० हृषीकेश चतुर्वेदी]

—:×××:—

१. (आर्यों के) यजुर्वेद में रुद्राष्टाध्यायी है।
२. भारत के उत्तर में स्थित कैलास श्रीशिव का निवास माना गया है।
३. श्री शिव की पत्नी पार्वती जी हिमाचल की पुत्री हैं।
४. श्री शिव की पहली पत्नी सती जी के पिता दक्ष-प्रजापति का निवास उत्तर-भारत में ही रहा। उन्होंने कनखल में यज्ञ किया था।
५. प्रमुख शिव-मन्दिर अधिक संख्या में उत्तर भारत में ही हैं—(सर्वश्री) केदारनाथ, अमरनाथ, वैद्यनाथ, सोमनाथ, विश्वनाथ, महाकालेश्वर, महेश्वर तथा त्र्यम्बकेश्वर।
६. श्री पशुपतिनाथ भारत के उत्तर (नेपाल) में विराजमान हैं।
७. दक्षिण में सुप्रसिद्ध शिवमन्दिर श्रीरामेश्वर का तथा दक्षिणपूर्व में श्री भुवनेश्वर का है।
८. 'शिव-पुराण' उत्तर-भारत में ही लिखा गया।
९. श्रीशिव द्वारा जटाओं में धारण की हुई श्री गंगा उत्तर भारत की ही प्रमुख नदी है जिनका जल श्रीरामेश्वर पर चढ़ाया जाता है।
१०. श्री शिव एवं पार्वतीजी गौर वर्ण के हैं (जो आर्यों का है)।

शबरी का विश्वास

[श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत) बी० एड०]

—:※※※:—

[श्रीमती सरिता भारद्वाज का प्रस्तुत लेख जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए 'दृढ़ विश्वासयुत और श्रद्धामय अथक पुरुषार्थ की भावना' को अपनाकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। शबरी के चरित्र में इन्हीं सद्गुणों का दर्शन करते हुए उन्हें आत्मसात करने का आग्रह लेखक ने 'सिद्धयोग' के योग साधक पाठकों से किया है। आशा है वे इस दिशा में अग्रसर होंगे। सं० सं०]

वैसे तो जीवन के हर कार्य के लिए दृढ़ विश्वास और अथक पुरुषार्थ की अपेक्षा है किन्तु साधना के पथ पर चलने के लिए श्रद्धा और विश्वास से बढ़कर कोई दूसरा सम्बल नहीं है। भगवान व्यासदेव जी ने श्रद्धा को योगी की माँ कहा है—

सा हि जननीव
कल्याणी योगिनं पाति।
तस्य हि श्रद्धधानस्य
विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते॥
समुपजातवीर्यस्य
स्मृतिरुपतिष्ठते।
स्मृत्युपस्थाने च चित्त
मनाकुलं समाधीयते॥
समाहित चित्तस्य
प्रज्ञा विवेक उपावर्तते।
येन यथार्थं वस्तु जानाति॥
तद् अभ्यासात् तद् विषयाच्च
वैराग्यात् असंप्रज्ञातः समाधिर्भवति।

अर्थात् श्रद्धा योगी का माँ की तरह निरन्तर कल्याण करती है और योगी की हर प्रकार से रक्षा करती है जिससे योगी विवेक-शील हो जाता है और उसमें आशा और उत्साह उत्पन्न होता है। जिसके परिणाम-स्वरूप गुरूपदिष्ट उपदेश की स्मृति निरन्तर बनी रहती है। निरन्तर ध्यान के फलस्वरूप चित्त स्थिर रहने लगता है। विक्षेप रहित समाहित चित्त में प्रज्ञा विवेक उत्पन्न होता है जिससे योगी समस्त पदार्थों को यथार्थ रूप से जानता है। इस प्रकार विवेक ज्ञान के अभ्यास और उसके फलस्वरूप उदित हुए पर वैराग्य से योगी को असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। योगस्वरूपा शबरी के जीवन में योग की यह प्रक्रिया साकार दिखाई देती है।

पति-पुत्र-विहीना निराश्रिता दीन-मलीना शबरी न वेद-शास्त्र-पढ़ी थी और न किसी उच्च कुल में जन्म लेने के कारण कुल क्रमागत संस्कारों से युक्त थी। वह 'अवगुण आठ सदा उर रहहीं' वाली उक्ति को चरितार्थ करने वाली—"अधम ते अधम अधम अति नारी"

थी। किन्तु उसका विश्वास और उसकी श्रद्धा कितनी अटूट और तीव्र थी इसका भान हमें प्रभु के श्रीमुख से कहे हुए वचनों से प्रकट होती है। भक्ति के नौ सोपान की वह साकार प्रतिमा है। भगवान राम कहते हैं—"सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।" बिना विश्वास के भक्ति दृढ़ नहीं हो पाती और बिना भक्ति के ईश्वरानुराग तथा अनुग्रह प्राप्त नहीं होता। शास्त्रों में श्रद्धा और विश्वास को सिद्धि का मूलमन्त्र बताया है—

"मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे,
दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य,
सिद्धिर्भवति तादृशी॥"

अर्थात् मन्त्र में, तीर्थ में, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी तथा गुरु में जिसकी जैसी भावना होती है वैसी ही उसको सिद्धि मिलती है।

विश्वास बहुत कम लोगों का बन पाता है अधिकांश लोग संशय की स्थिति में पड़े रहते हैं। संशय में पड़े लोगों का अन्त "संशयात्मा विनश्यति" के अनुसार सर्वनाश ही है। कुछ लोग शायद "हो सकता है"—की स्थिति में रहते हैं। उनका विश्वास सोलह आने पक्का नहीं होता पर उनमें अविश्वास भी नहीं होता। वे थाली के बैंगन बने लुढ़कते रहते हैं। ऐसे लोगों को भी अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिलती। तीसरी कोटि के वे लोग हैं जिन्हें श्रीगुरु के वचनों और शास्त्रों पर सोलह आने विश्वास होता है। जिसके फलस्वरूप वे उत्तरोत्तर अभ्यास और साधना करते चले जाते हैं और—"तीव्र संवेगानामासन्नः" अर्थात् जिनमें विश्वास और श्रद्धा के फलस्वरूप परवैराग्य तीव्रता से उत्पन्न हो जाता है उन्हें समाधि लाभ अति शीघ्र होता है। योगदर्शन के समाधिपाद के २१ वें सूत्र के नियमानुसार वे अपने लक्ष्य को पा जाते हैं। उत्तम कोटि का विश्वास वट वृक्ष की तरह निरन्तर अक्षय गति से बढ़ता ही जाता है और उसकी जड़ें गहरी चलती जाती हैं। सन्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने साधना की सफलता के लिए विश्वास का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'बट बिस्वास अचल निज धरमा।' जब तक विश्वास पल्लवित नहीं होगा तब तक अपने धर्म-कर्म में अचल नहीं हो सकता। बिना विश्वास के मन में अनेकों संकल्प-विकल्प उठते रहने के कारण मन एकाग्र कैसे हो सकेगा और जब तक मन की एकाग्रता नहीं तब तक समाधि लाभ गूलर का फूल है। सिद्धि का मूलमन्त्र बताते हुए भक्त प्रवर तुलसीदासजी कहते हैं—गुरूपदिष्ट मार्ग में विश्वास रखकर अभ्यास और वैराग्य का सहारा लेने से प्रभु चरणों के दर्शन अवश्य होंगे और—

"गुरु के बचन प्रतीति न जेही।
सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही॥"

जिसकी गुरु में अनुरक्ति नहीं उसकी ईश्वर में भक्ति नहीं हो सकती। सच्चा गुरु ईश्वर से राग उत्पन्न कर देता है और अपने में मोह नहीं होने देता। ढोंगी गुरु स्वयं को भगवान बताकर ईश्वर को भुलाकर स्वयं में शिष्य का मोह उत्पन्न कर अपनी पूजा

कराते हैं। ऐसे ढोंगी गुरुओं के विषय में तुलसीदासजी ने सावधान करते कहा है—

"हरहिं शिष्य धन शोक न हरहीं।"

श्रद्धायुक्त मन प्रभु को प्रकट करने में समर्थ होता है। गुरुदेव श्रद्धालु शिष्य को अपने हृदय का खजाना लुटा कर निहाल कर देते हैं। श्रद्धा के जल में भक्ति रूपी मछली जीवित रहती है। चित्त की विशेष प्रसन्नता को श्रद्धा कहते हैं। चित्त की प्रसन्नता के परिणामस्वरूप बुद्धि यथार्थ वस्तु को ग्रहण करने में समर्थ होती है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

"प्रसन्नचेतसो ह्याशु
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।"

प्रह्लाद और मीरा जैसा विश्वास हो और ध्रुव जैसी प्रतिज्ञा तो भगवान स्वयं भक्त से आकर पूछते हैं कि—'वरं ब्रूहि।'

कहा जाता है कि शबरी की शादी पक्की कर दी गई और बरातियों के स्वागत के लिए अपनी जाति-प्रथा के अनुसार वन के पक्षियों को इकट्ठा किया जा रहा था। इस दृश्य को देखकर शबरी ने पूछा कि ये पक्षी क्यों इकट्ठे किये जा रहे हैं? उत्तर मिला—बरातियों की शर्त है कि चिड़ियों का मांस खिलाया जाय तभी शादी होगी। शबरी को निर्णय करते देर न लगी। जिस विवाह में इतने निरीह जीवों की हत्या हो वह विवाह करके मैं क्या करूँगी? वह जीवन भर समाज से तिरस्कृत और निराश्रित होकर मारी-मारी घूमने लगी। दूसरी मान्यता के अनुसार अत्यधिक कुरूपा होने के कारण बरात की विदा होने के बाद उसके पति गृह के सभी लोग बीच मार्ग में उसकी डोली छोड़कर चले गये। असहायावस्था में आश्रय पाने के लिए शबरी भटकती-भटकती मातंग ऋषि के आश्रम में पहुँची। नीच जाति की होने के कारण आश्रम के बाहर वह पड़ी रहती और ईश्वर-चर्चा सुनकर आनन्दित होती रहती। और प्रसाद के रूप में जो कुछ मिलता उससे अपने दिन काटती। एक दिन उसके मन में विचार आया कि मुझे भी ऋषि की कुछ सेवा करनी चाहिए किन्तु हाय! मैं अधम जाति की मन्दमति नारी हूँ। अतः मेरी सेवा को कौन स्वीकार करेगा? वह रात में जंगल से लकड़ियाँ लाकर यज्ञ-वेदी के पास चुपचाप रख दिया करती। एक दिन ऋषि ने लकड़ी लाने वाले का पता पूछा। किसी को कुछ पता न था। रात को छिपकर देखा गया कि कौन लकड़ी लाता है? ऋषि ने शबरी को प्रसन्नता से बुलाकर कहा – आज से तुम इस आश्रम में जहाँ चाहो और जैसे चाहो सेवा करो। यह आश्रम तुम्हारा है। शबरी नीच जाति की होने के कारण असमंजस में पड़ गई। ऋषि ने उसके मन को ताड़कर कहा—तुम परम-पावना, साध्वी, भक्त हो। भक्त की जाति, कुल, धर्म सबसे ऊँचा होता है। इस आश्रम में भगवच्चरित्र गुणगान सुनते-सुनते सच्चे मन से आश्रम की सेवा करते काफी समय बीत गया। एक दिन मातंग ऋषि ने अपने पास बुलाकर कहा – अब मेरी जीवन-यात्रा पूर्ण हो रही है। तुम इस आश्रम की

स्वामिनी हो। यहीं रहकर भजन करना। शबरी ने करुण स्वर से कहा—प्रभो! मैं अब आपके बिना यहाँ कैसे अपना जीवन बिताऊँगी? उसकी निःस्वार्थ सेवा और सरल हृदय से निकली वाणी से द्रवित होकर ऋषि ने शबरी को 'राम-नाम' की दीक्षा दी और कहा—हे शबरी! तू अनन्य भाव से अशरण-शरण दीनबन्धु भगवान के चरण-कमलों का चिन्तन करती रहना। एक दिन वे स्वयं दर्शन देकर तुझे कृतार्थ करेंगे।

शबरी अनन्यभाव से अपने आराध्यदेव श्रीराम का अहर्निश चिन्तन करती व ध्यान करती रहती। प्रतीक्षा की घड़ियाँ वो तो बड़ी लम्बी लगती हैं पर जिसके रोम-रोम और जिसकी श्वास-श्वास में प्रियतम रम रहे उसके लिए 'दिवस जात नहिं लागत बारा' की कहावत चरितार्थ हो जाती है। दण्डक वन में ऋषि मुनियों के आश्रम में जा जाकर उनके जीवन की साधना को कृत-कृत्य करते हुए भक्त-वत्सल भगवान कबन्ध का उद्धार कर शबरी के आश्रम पर आ गये। शबरी प्रतिदिन उनको बाट जोहती और रास्ता साफ करती रहती थी। वन से कन्दमूलफल ला-ला कर रख लेती थी अपने मन भावने को अर्पण करने के लिए। आज

'सरसिज लोचन बाहु विशाला।
जटामुकुट सिर उर बन माला॥

भगवान राम और लक्ष्मण उसके नेत्रों के सामने खड़े हैं। गद्‌गद वाणी और पुलकित शरीर तथा सजल नयनों से शबरी राम को निर्निमेष निहार रही है और अपने गुरुदेव के आश्वासन का बार-बार स्मरण कर रोमांचित हो रही है।

"शबरी देखि राम गृह आये।
मुनि के वचन समुझि जिय भाये॥

गुरुदेव ने कृपाकर मुझे राम दर्शन का अवसर प्रदान करा दिया। वह आपा भूल गई। भगवान राम की स्तुति करना चाह रही थी पर लगी करने अपनी निन्दा। राम ने देखा कि मेरी माँ अपने बच्चे की प्रशंसा करना चाहती है यह उचित नहीं। अपनी निन्दा कर रही है यह भी उचित नहीं। आप बीच में बोल पड़े—

'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता॥

शबरी को सावधान तथा निर्भय करते हुए बोले हे देवी मैं दस-कुल का नाश करने वाला हूँ। दस को मैं बिल्कुल नहीं अपनाता। मुझे दस की अपेक्षा नौ से प्यार है। दस मुझे नहीं दिखाते जितने नौ मुझे दिखाते हैं। कारण एक (ब्रह्म) के आगे शून्य (माया) लग जाने के कारण संसार की निस्सारता का रूप दस में मैं आ जाता है और नौ पूर्ण संख्या है।

आदि अन्त निरवाहिवो जैसे नव को अंक,
तुलसी अपने राम को भजन करौ निःशंक।

दस गिनाते हैं -

१ २ ३ ४ ५
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
६ ७ ८ ९ १०
धन, बल परिजन गुण चतुराई।
भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥

दस में भक्ति के न होने से सब त्याज्य है। शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश देकर मानो भगवान स्वयं अपने भक्त का गुण गान कर रहा हो।

नव महुँ एकउ जिनके होई ।
नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोई अतिशय प्रिय भामिन मोरे ।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥

भक्त वत्सल भगवान ने शबरी की भक्ति की परिपक्वता और उत्कृष्टता देखकर उसे कृत-कृत्य कर दिया, जिससे

'तजि जोग पावक देह हरिपद,
लीन भइ जँह नहि फिरे ।

वह कैवल्य की अधिकारिणी हो गई। श्रद्धा और विश्वास के फलस्वरूप उसके जीवन में सत्संग कथा रस पान, गुरु सेवा, कीर्तन मन्त्र जप, शम दम शील, तथा नैष्कर्मता, सदाचारिता समत्व भाव, सन्त समादार, सन्तोष, परगुण दर्शन भावना, सरलता तथा निश्छलता तथा ईश्वर प्रणिधान आदि नौ प्रकार की भक्ति का उत्तरोत्तर विकास हुआ जिससे प्रसन्न होकर परमगुरु ईश्वर ने उनके चखे हुए बेर बड़े प्रेम से खाये। जिसका मन वाणी तथा कर्म राम-मय हो उसके मुँह से कोई चीज झूठी कैसे हो सकती है। झूठी तो तब हो जब उसका अपना कुछ हो। उसका रोम-रोम प्रभु के प्रेम का प्यासा है फिर वह कहाँ जाती है। मानो उसके माध्यम से प्रभु ही खाते हैं।

उपाय प्रत्यय वाले योगियों को

'श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधिप्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम ।

योग सूत्र के नियमानुसार श्रद्धा उत्साह स्मृति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है इसका दृष्टान्त हमें शबरी के जीवन में मिलता है। श्रद्धा करने वाला चाहता है कि मेरे आराध्य को दूसरे भी चाहें। इसीलिए सच्चे भक्त दूसरे भक्तों को देखकर आनन्दमग्न हो जाते हैं। प्रेम प्रेमी पर अपना एकाधिकार चाहता है किन्तु श्रद्धा समर्पण जानती है। शबरी ने राम को अपने यहाँ रोका नहीं। उसकी तरह न जाने कितने भक्त दर्शन के लिए तड़प रहे होंगे। अतः अपने आराध्य को अपने तक ही सीमित न करती हुई शबरी उन्हें सुग्रीव के पास जाने का निवेदन करती है। यथा—

पंपा सरहि जाहु रघुराई,
तहँ होइहि सुग्रीव मिताई,

भूल सुधार

['सिद्धयोग' के ७ वें वर्ष के ११ वें अङ्क में 'इस्लाम और योग' शीर्षक जो लेख श्री शिवराम सागर का छपा है उसका शीर्षक "एक महात्मा की दृष्टि में अनन्त शक्ति सम्पन्न भारतीय योगी श्री चन्द्रमोहनजी महाराज" किन्तु असावधानता वश यह शीर्षक लेख के ऊपर न छपकर 'इस्लाम और योग' छप गया। पाठक इस भूल को सुधार लेने की कृपा करें। सं० सं०]

माता के दो पुत्र :

सगुण उपासक और निर्गुण उपासक

[श्री जी० एन० व्यास, एडवोकेट, हाईकोर्ट, इन्दौर]

अपने पिछले लेख में मैंने सगुण एवं निर्गुण भक्ति के विषय में कुछ विचार पुष्प आपकी सेवा में परमपूज्य श्रद्धेय श्री गुरुदेव की महती कृपा से समर्पण किये थे। अब इस लेख में सगुण उपासक और निर्गुण उपासक इनमें जो प्रत्यक्ष भेद प्रतीत होता है उनके वास्तविक स्वरूप के विषय में अपने कुछ विचार प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

अब बारहवें अध्याय में भक्ति तत्त्व की समाप्ति करनी है। अर्जुन ने समाप्ति सम्बन्धी प्रश्न पूछा। पाँचवें अध्याय में जीवन सम्बन्धी सर्वशास्त्रों का विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुन ने पूछा था वैसा ही यहाँ भी पूछा है।

अर्जुन उवाच —

एवं सतत युक्ता ये
भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षर मव्यक्तं
तेषां के योग वित्तमाः ॥

—गीता १२/१

अर्जुन पूछता है "भगवान कुछ लोग सगुण का भजन करते हैं और कुछ निर्गुण की उपासना करते हैं। तो अब बताओ कि इन दोनों में अति उत्तम योग-वेत्ता आपको कौन-सा भक्त अधिक प्रिय है?

भगवान इस प्रश्न का क्या उत्तर दें? किसी माँ के दो बच्चे हों और उस माता से यदि ऐसा प्रश्न किया जावे तो उसकी जैसी दशा होगी ठीक वैसी ही भगवान की दशा यहाँ अर्जुन के प्रश्न करने से हो गई है।

यह ऐसी बात है दो बच्चों में से जो छोटा बच्चा होगा वह माँ को बहुत प्यार करता है माँ को देखते ही आनन्दित हो जाता है उसके जरा दूर जाने से एकदम व्याकुल हो जाता है रोने लगता है चिल्लाने लगता है। वह माँ से दूर जा नहीं सकता। उसे एक पलभर भी छोड़ नहीं सकता, उसका वियोग वह सहन नहीं कर सकता। माँ के अभाव में सारा संसार उसके लिए तो सूना है ऐसा वह छोटा बच्चा है। दूसरा बच्चा बड़ा है वह भी माँ से उतना ही प्रेम करता है किन्तु वह समझदार हो गया है माँ से दूर रह सकता है। वह माँ की सेवा करने वाला है। सारा बोझ अपने सिर पर लेकर काम करता है। काम-काज में लग जाने से वह माता का वियोग सह सकता है। लोगों में उसकी प्रतिष्ठा है इसे सुनकर माँ को भी बड़ा सुख प्राप्त होता है। ऐसा वह दूसरा बड़ा बेटा है।

अब आप ऐसे दो बेटों के बारे में माँ से पूछिये कि माँ आपको इन बेटों से एक कोई भी बच्चा दिया जावेगा। आप जिसे चाहो पसंद कर लो, तो माँ क्या उत्तर देगी ? क्या वह दोनों बेटों को तराजू में रखकर तोलेगी ? माता की भूमिका पर ध्यान दीजिए। उसका स्वाभाविक उत्तर क्या होगा ? वह निरुपाय होकर कहेगी यदि दोनों में से किसी एक का वियोग प्रारब्ध में ही लिखा हो तो बड़े बेटे का वियोग मैं सहन कर लूँगी। छोटा बेटा पूर्णरूप से उस पर आश्रित है वह तो पलभर भी उसके बिना नहीं रह सकता। उसे तो वह अपने से दूर नहीं रख सकती। छोटे बेटे के विशेष आकर्षण एवं उसकी असहाय अवस्था को देखकर शायद वह ऐसा कोई जवाब दे—"बड़ा बेटा दूर जावे तो हर्ज नहीं"। परन्तु उसे अधिक प्रिय कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर तो वह कदापि नहीं दे सकेगी। ठीक ऐसी ही स्थिति अर्जुन के उपर्युक्त प्रश्न करने पर भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण की हो गई है। अर्जुन कहता है—"भगवान दो तरह के आपके भक्त हैं। एक तो आपके प्रति अत्यन्त प्रेम रखता है, आपका निरन्तर स्मरण करता है। उसकी आँखें आपके दर्शन की प्यासी, उसके कान आपका गुणगान सुनने को उत्सुक हैं उसके हाथ-पाँव आपकी सेवा पूजा के लिए व्याकुल हैं। दूसरा है स्वावलम्बी, इन्द्रियों को सतत् वश में रखने वाला, सर्वभूतहित में रात-दिन समाज की निष्काम सेवा में ऐसा मग्न है कि मानो उसे परमेश्वर का स्मरण ही न होता हो। यह है आपका निर्गुण भक्त। अब मुझे बताइये दोनों में से आपको कौन-सा भक्त अधिक प्रिय है।

मय्यावेश्य मनो ये मां
नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेता
ते मे युक्ततमा मताः॥
—गीता अ० १२

भगवान ने कहा दोनों ही भक्त मेरे हैं किन्तु दोनों में से सगुणभक्त मुझे अधिक प्रिय है। इस तरह भगवान दुविधा में पड़ गये हैं कुछ न कुछ उत्तर देना था इसलिए दे डाला। और वास्तव में बात भी ऐसी ही है। अक्षरशः दोनों भक्त एकरूप हैं। दोनों की योग्यता एक-सी है। उसकी तुलना करना मर्यादा का अतिक्रमण करना है। पाँचवें अध्याय में जैसा प्रश्न कर्म के विषय में अर्जुन ने भगवान से पूछा था वैसा ही इस अध्याय में भक्ति के सम्बन्ध में पूछा है। पाँचवें अध्याय में कर्म और विकर्म की सहायता से मनुष्य अकर्म दशा को प्राप्त हो जाता है। वह अकर्मावस्था दो रूपों में प्रकट होती है। एक तो यह कि रात-दिन कर्म करते हुए भी लेशमात्र कर्म नहीं करना और दूसरी चौबीस घण्टों में एक भी कर्म न करते हुए मानो दुनियाँ भर की उखाड़-पछाड़ करना है। वास्तव में इन दोनों ही रूपों में अकर्म दशा ही प्रकट होती है। अब इनकी तुलना कैसे की जावे ? किसी गोल चक्र के एक पहलू से दूसरे पहलू की तुलना कीजिये, कैसे करेंगे ? दोनों पहलू एकसी योग्यता एकसा गुण रखते हैं—एक ही रूप है। अकर्म भूमिका

का विवेचन करते हुए भगवान ने एक को संन्यास और दूसरे को योग कहा है।

संन्यासः कर्मयोगश्च
निःश्रेयस करावुभौ।
तयोस्तु कर्म संन्यासात्
कर्मयोगो विशिष्यते ॥

—गीता ५।२

कर्मों का संन्यास अर्थात् मन इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापना का त्याग, और निष्काम-कर्मयोग, अर्थात् समत्व बुद्धि से भगवान के अर्थ सब कर्मों का करना यह भले ही दो हों किन्तु दोनों का अर्थ एक ही है। संन्यास और योग दोनों का हल अन्त में सरलता सुगमता के आधार पर ही किया गया है। सगुण-निर्गुण का प्रश्न भी ऐसा ही है। सगुण भक्त ऐसा है जो इन्द्रियों के द्वारा परमेश्वर की ही सेवा करता है दूसरा है निर्गुण भक्त जो मन से विश्व कल्याण की चिन्ता करता है। सगुण भक्त ऊपर से बाह्य सेवा में मग्न दिखाई देता है किन्तु भीतर से वह सतत् निरन्तर परमात्म चिन्तन लगा रहता है। निर्गुण भक्त ऊपर से कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करते दिखाई नहीं देता परन्तु भीतर से उसकी महा सेवा विश्व-कल्याण चिन्तन चल ही रही है। इस प्रकार के दोनों भक्तों में श्रेष्ठ कौन-सा है? रात-दिन कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करने वाला सगुण भक्त है निर्गुण भक्त भीतर से सब के हित का चिन्तन करता है। अर्थात् ये दोनों भक्त भीतर से एक रूप ही हैं दोनों अवश्य बाहर से भिन्न दिखाई देते हैं किन्तु दोनों हैं एक से ही। ये दोनों ही भगवान को प्यारे हैं। फिर भी इन दोनों में सगुण भक्ति अधिक सुलभ है। इस प्रकार भगवान ने जो उत्तर पूर्व अध्याय में दिया था वही उत्तर यहाँ १२वें अध्याय में भी ऊपर बताये अनुसार दिया है।

—:×:—

दुर्लभं तत्वदर्शनम्

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥

श्रेष्ठ गुरुओं की दया के बिना विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्व का दर्शन भी दुर्लभ है और सहज अवस्था भी दुर्लभ है। अपने भोक्ताओं को अपने अंग से बाँधने वालों का नाम विषय है वे विषय इस लोक में स्त्री पुत्रादिक हैं और परलोक में अमृत आदिक हैं। उनका त्याग अर्थात् भोग की इच्छा का अभाव। आत्मा के अपरोक्ष के अनुभव को तत्त्व दर्शन कहते हैं। चौथी अवस्था का नाम सहजावस्था है। जो पदार्थ देखने योग्य नहीं है उन पदार्थों में भी जिनकी दृष्टि स्थिर हो जाती है वे ही सद्गुरु कहलाने योग्य हैं। —हठयोग प्रदीपिका

चार-मुक्तक

[श्री रामजीवनसिंह, इलाहाबाद]

सवाई नामक ग्राम में, सिद्ध गुफा अभिराम ।
रामलाल जहँ रम रहे, योगेश्वर सुखधाम ।।
योगेश्वर सुख-धाम एक भव-सिन्धु सहारा ।
रामरतों सो अधम महापतितों को तारा ।।
ना जाने कितनों को प्रभु ने ज्ञान बताई ।
तन-मन निर्मल हुआ गये जो ग्राम सवाई ।।

काशी आदिक तीर्थ में, भ्रमण करत हैं लोग ।
मन विकार से युक्त हैं, नहीं मिटत भव-रोग ।।
नहीं मिटत भव-रोग योग की गोली खाओ ।
जिला आगरा सिद्ध गुफा की ओर सिधाओ ।।
योगेश्वर प्रभु रामलाल जी घट-घट वासी ।
जिनके ही चरणों में बसते काबा-काशी ।।

कलयुग में तो योग को, हौवा समझत लोग ।
फँसे रहत हैं भोग में, लगे अनेकों रोग ।।
लगे अनेकों रोग नहीं सतगुरु ढिग जावें ।
धावत चाकित चित्त चैन कतहूँ ना पावें ।।
जनम-मरण में बीत गये जाने कितने युग ।
नहीं ध्यान जप करत कहत बाधक है कलयुग ।।

सब रोगों का जगत में, बढ़ता जात अज्ञान ।
मानव गिरता जा रहा, असफल है विज्ञान ।।
असफल है विज्ञान नहीं मन पर जय पाया ।
निशिपति, रवि ग्रह आदि आज तक समझ न पाया ।।
विश्व-शान्ति का रहा नहीं साधन कोई अब ।
एक योग की शक्ति से ही सम्भव है सब ।।

वैराग्य--क्यों और कब ?

[श्री आचार्य यशोवर्द्धन]

—卐—

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है बिनु सत्संग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई। अर्थात् बिना सत्संग के सत् और असत् का परिचय कराने वाला विवेक नहीं होता और सत्संग बिना भगवान की कृपा के सुलभ नहीं होता। वैराग्य के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसी ही बात कही जा सकती है। बिना सत्संग के वैराग्य नहीं होता और वैराग्य को जन्म देने वाला सत्संग बिना भगवान् की कृपा के नहीं मिला करता। फिर यह सत्संग, चाहे सद्गुरु से प्रसाद स्वरूप में मिले, चाहे संत-समागम के फलस्वरूप मिले, चाहे आर्ष ग्रन्थों की स्वाध्यायशीलता से मिले और चाहे किसी दैहिक दैविक या भौतिक ताप की असहनीय वेदना या किसी आत्मीय के विछोह अथवा उसके द्वारा तिरस्कार आदि का व्यवहार किये जाने के परिणाम से मिले। यदि इन हेतुओं में से कोई हेतु मनुष्य के अन्तर्मन को चेतना दी होकर सजग कर देता है, उसे सांसारिक रागों से अलग कर वैराग्य की परिधि में पहुँचा देता है, तो यही कहा जायगा कि यह सब भगवान की कृपा से ही सुलभ हुआ है।

गोस्वामी तुलसीदास के जीवन के पूर्व पक्ष की यह कथा लोक में प्रसिद्ध है कि वे अपनी पत्नी के प्रेम में इतने अनुरक्त थे कि बिना उनकी अनुमति के जब वह अपने पीहर चली गई तो उसका अभाव उन्हें इतना अखरा कि तुरन्त उसके पीछे ही ससुराल जा पहुँचे। रात अँधेरी थी, मूसलाधार वर्षा हो रही थी, घर का दरवाजा बन्द था। विवश होकर पिछवाड़े की दीवाल और छत को पार कर किसी प्रकार उस कमरे में जा पहुँचे जहाँ उनकी प्रियतमा पत्नी रत्नावली सो रही थी। थोड़ी सी आहट पाकर वह जाग पड़ी। देखा पास ही कोई खड़ा है! कौन खड़ा है यह पूछना ही चाहती थी कि बिजली की चमक हुई और उस क्षणिक चमक में उसने पहचाना कि और कोई नहीं उसके पतिदेव ही पास में खड़े हैं। रत्नावली ने विस्मित होकर पूछा क्यों कैसे आये? इस अँधेरी रात में मार्ग में पड़ने वाले दुरूह नदी नालों को कैसे पार किया तुमने? तुलसीदास ने जवाब दिया—तुम्हारा अभाव मेरे लिए असह्य था। इसलिए तुम्हारे प्रेम और रूप-लावण्य का आकर्षण ही मुझे यहाँ तक ले आया है। नदी नाले कैसे पार कर सका यह मैं स्वयं नहीं जानता। तुम तक जल्दी पहुँचने की लगन ही मुझे यहाँ तक जल्दी-जल्दी ले आई है। रत्नावली ने यह सब कुछ सुना और तिरस्कार तथा उपेक्षा का भाव व्यक्त करते हुए उनसे कह डाला :

जितनी हेतु हराम माँ ।
उतनी हरि सौं होय ॥
चले जाउ बैकुण्ठ कौं ।
बाँह न पकरैं कोय ॥

कहते हैं रत्नावली कवियत्री थी इसलिए कविता में ही उसने अपने मानसिक भावों को उंडेल दिया । तुलसी ने रत्नावली की मनोदशा को परखा । उसके उपर्युक्त दोहे ने उनके अन्तर्मन को ठोकर मारकर जगाया । उन्हें अपने पर, अपनी पत्नी के पास सहसा पहुँचने के कृत्य पर, लज्जा और ग्लानि हुई । इसी बीच में रत्नावली ने उद्बोधन का एक तीर कसकर और मारा । वह कहने लगी –

हाड़ चाम मय देह मम ।
जामें जैसी प्रीति ॥
तैसी जो श्री राम में ।
होय न तौ भव भीति ॥

तीर निशाने पर लगा । तुलसी मर्माहत हो गये । वैराग्य का अंकुर हृदय-भूमि में उद्भूत हो गया । सांसारिक वासना से उन्हें घृणा हुई । सोचने लगे ठीक कहती है रत्नावली । जितनी आसक्ति और अनुराग मुझे इसके हाड़-चाम के बने नाशवान शरीर से है उतना प्रेम यदि मुझे भगवान से हो जाय तो निश्चय ही मेरा कल्याण हो लेगा । धिक्कार है, मुझे और मेरी ऐसी सांसारिक वासना को जिसके वशीभूत होकर मैं इस घोर अँधेरी रात में भयंकर नदी नालों को पार करते हुए यहाँ तक आ पहुँचा हूँ । तुलसी लौट पड़े उल्टे पाओं । हृदय में सहसा उत्पन्न वैराग्य ने उन्हें बाध्य कर दिया भगवान श्रीराम के चरणों में चलने के लिए । इसके लिए आवश्यक है त्याग और तपस्या का मार्ग और इस मार्ग का निर्देशन करेंगे कोई सद्गुरु । अतः तुलसीदास ने सबसे प्रथम सद्गुरु के चरणों की खोज की और उनकी कृपा से तुलसी प्रातः स्मरणीय और जन जन के वन्दनीय तुलसी बन गये । राम चरित मानस की रचना करते हुए उन्होंने सर्व प्रथम गुरु चरणों की वन्दना करके ही अपने को कृतार्थ किया है । यथा :—

बन्दऊ गुरु पद कंज,
कृपासिन्धु नर रूप हरि ।
महा मोह तम पुंज,
जासु वचन रविकर निकर ॥

लेकिन इस वास्तविकता को भी स्वीकार करने से कौन इन्कार करेगा कि तुलसी के मन-मानस में ज्ञान और वैराग्य का अंकुर उत्पन्न करने का कारण मुख्य रूप से उनकी पत्नी रत्नावली और उसकी भर्त्सना ही थी ।

संस्कृत वाङ्मय में हमें ऐसा ही दूसरा उदाहरण श्रृङ्गार, वैराग्य और नीति शतक के रचयिता श्री भर्तृहरि के जीवन में देखने को मिलता है । कहते हैं राजा भर्तृहरि अपनी एक रानी के रूप लावण्य के कारण उस पर विशेष अनुरक्त थे । रानी भी दिखावट में राजा से बहुत प्यार करती थी किन्तु परोक्ष में उसका प्रेम एक राज कर्मचारी से था जो फराशखाने

का दारोगा कहलाता था। एक दिन किसी एक अभ्यागत योगी सन्त ने राजा के सद्गुणों से प्रभावित होकर उसे एक फल भेंट किया और कहा कि इस दिव्य फल के सेवन से राजा की यश कीर्ति के साथ-साथ उसकी आयु में भी आशातीत वृद्धि होगी तथा उसका पौरुष और रूप लावण्य भी सदा एक रस बना रहेगा। राजा ने सन्त से वह फल सादर ग्रहण कर लिया और रंग महल में पहुँचकर उसे उस रानी को ही दे दिया जिसे वे सबसे अधिक प्यार करते थे। रानी ने उस समय उसे रख लिया और अवसर पाकर उसे अपने प्रेमी फराश खाने के दारोगा को सौंप दिया। दारोगा आचरणहीन था। वह नगर की एक रूपवती वेश्या से प्रेम करता था और प्रायः नित्य उसके यहाँ भी आया जाया करता था। दारोगा ने वह फल अपनी प्रेमिका वेश्या को सौंप दिया और उसे बता दिया कि इसके सेवन से उसकी कीर्ति और कान्ति दोनों की वृद्धि होगी और उसकी आयु भी बढ़ेगी। दारोगा के चले जाने पर वेश्या ने सोचा कि मैं स्वयं नारकीय जीवन व्यतीत कर रही हूँ क्यों न इस फल को मैं अपने राजा भेंट कर दूँ। राजा सद्गुण सम्पन्न और धर्मानुरागी हैं इस फल के सेवन से उनकी आयु, यश और कीर्ति सबकी वृद्धि होगी। वेश्या के इस विचार ने क्रिया का रूप लिया। दूसरे ही दिन वह उस फल के साथ राज दरबार में उपस्थित हुई और अवसर देखकर वह दिव्य फल उसने राजा को भेंट कर दिया। राजा ने फल हाथ में लेते ही उसे पहचान लिया कि यह तो वही दिव्य फल है जो मैंने अपनी रानी को दिया था। वह इस वेश्या पर कैसे पहुँचा? वेश्या से ही राजा ने पूछा तो उसने राजा को बता दिया कि आपके फराश खाने के दारोगा ने इसे मुझे दिया है वह मुझ से प्रेम करता है और उस प्रेम की कीमत उसने मुझे इस रूप में चुकाई है। राजा ने तुरन्त दारोगा को बुलवाया और उससे पूछा कि सच सच बतलाओ तुम्हें यह दिव्य फल कहाँ से कैसे प्राप्त हुआ? यदि कुछ भी झूठ बोला तो निश्चय ही तुम्हें प्राणदण्ड दिया जायगा। बेचारे दारोगा ने प्राणों के डर से साफ-साफ बता दिया कि यह फल मुझे रानी साहिबा से प्राप्त हुआ है क्योंकि रानी मुझ से प्रेम करती है। दारोगा की यह स्पष्टोक्ति सुनकर राजा की अन्तर-चेतना को विवेक ने ठोकर मार कर जगाया। सहसा उनके मुख से निकल पड़ा :

यां चिन्तयामि सततं
मयि सा विरक्ता।
साप्यन्यमिच्छति जनं
स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परि-
तुष्यति काचिदन्या।
धिक् तां च तं च
मदनं च इमां च मां च,

अर्थात्

निरन्तर जिसकी मैं चिन्ता किया करता हूँ, वह मुझ से विरक्त रहकर अन्य पुरुष की इच्छा करती है वह अन्य पुरुष भी किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त रहता है और हमारे लिए कोई अन्य ही स्त्री प्राण दे रही है। इसलिए अन्य पुरुष से प्रीति रखने वाली अपनी

स्त्री को धिक्कार है, उस पुरुष को धिक्कार है जिसे वह चाहती है। इस अन्य स्त्री को भी धिक्कार है जो मुझको चाहती है! मुझ को भी धिक्कार है और उस कामदेव को भी धिक्कार है!

महाराजा भृर्तृहरि की आत्मा तिलमिला उठी, अपनी स्त्री, स्त्री के प्रेमी दारोगा और दारोगा की प्रेमिका वेश्या का जाल-जाल देखकर उन्होंने स्वयं अपने को शामिल करते हुए सब को धिक्कारा और सारे राज-वैभव और राज प्रासादों को छोड़कर चल पड़े जंगल की ओर। सद्गुरु की खोज की और उनके चरणों में बैठकर वह मार्ग पा लिया जो निर्वाण और मुक्ति का मार्ग कहा जाता है। यदि राजा के जीवन में घटित इस घटना ने उनकी अन्तरात्मा को ठोकर मारकर वैराग्य की ओर उन्मुख न किया होता तो कौन जानता आज शतकत्रय के रचयिता राजा भृर्तृहरि को! यह उस प्रभु का अनुग्रह था जिसने एक अनोखा घटना क्रम उपस्थित करके राजा को आत्म कल्याण के पथ पर मोड़ा।

श्रीमद् शङ्कराचार्य जन्म से ही अपने पूर्व संस्कार वश वैराग्य के गहरे रंगे हुए थे। इसीलिए अपनी किशोर अवस्था में ही उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये बिना ही संन्यास ग्रहण करने की इच्छा अपनी मां से व्यक्त की। मां नहीं चाहती थी कि अपने एकमात्र बेटे को वह सन्यास आश्रम में जाने दे। शंकर बिना मां की अनुमति प्राप्त किये संन्यास दीक्षा लेना नहीं चाहते थे। लेकिन सहसा एक दिन ऐसा भी आया जब मां को कहना पड़ा 'अच्छा बेटा जाओ तुम संन्यास-दीक्षा ग्रहण कर लो।' कोई एक पर्व था। बालक शङ्कर उनकी मां अपने अन्य ग्राम वासियों के साथ समीप ही बहने वाली नदी में स्नान करने पहुंचे। मां नदी में स्नान करके बाहर आ गई थी, शंकर अभी नदी के बीच में ही थे कि सहसा पुकार आई मां मुझे बचाओ मेरा पैर मगर ने पकड़ लिया है वह मुझे वेग से नदी के बीच में खींचे लिये जा रहा है। मां घबड़ा कर रोने लगी-बोली क्या करूं बेटा। शङ्कर ने कहा एक ही उपाय है मां! तू अगर मुझे संन्यास दीक्षा लेने की आज्ञा देकर भगवान को सौंप दे तो सम्भव है भगवान मगर से मेरा पीछा छुड़ा दें। मां अपने प्यारे बेटे के प्राण बचाना चाहती थी। तुरन्त बोली आ बेटा आ मैं तुझे अनुमति देती हूं। तू किसी भी गुरु से संन्यास दीक्षा ले सकता है, भगवान तेरी रक्षा करें, मैं तुझे उन्हीं की सेवा में समर्पित करती हूं। शंकर की मुक्ति काम कर गई। मां की अनुमति पाकर उन्होंने संन्यास दीक्षा ग्रहण की और संसार के कल्याण में निरत हो गये। यदि मगर वाली घटना न घटी होती तो कैसे दूर होता शंकर की मां का व्यामोह। यह सब घटना क्रम भी प्रभु कृपा से ही घटित होते हैं।

योगी दयानन्द के जीवन को वैराग्य की ओर मोड़ देने की घटना भी तो उनके अपने आत्मीय की मृत्यु हो जाना ही था, इतिहास में इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वैराग्य को जन्म देने वाली घटनायें भी भगवान की कृपा से ही सुलभ हुआ करती हैं।

कैसे गाऊँ गीत तुम्हारे

[श्री देवेन्द्र सिंह यादव एम० ए० (हिन्दी) एल० टी० हिन्दी प्रवक्ता]
(एटा अलीगंज)

मैं माटी का पुतला प्रभु तुम जग के पालन हारे।
कैसे गाऊँ नश्वर स्वर से बोलो गीत तुम्हारे?
विधि, हरि, हर का रूप तुम्हारा है अनादि अविनाशी।
पावन गाथाएँ गाने को मेरा मन अभिलाषी॥
लौकिक स्वर से चंचल मन यह कैसे तुम्हें पुकारे।
कैसे गाऊँ नश्वर स्वर से बोलो गीत तुम्हारे?
हिम समाधि ले प्रभु जी तुमने किया हिमालय पावन।
दिव्य ज्योति से हुआ प्रकाशित नभ-धरती का आँगन॥
दीनानाथ साधकों के तुमने जग भार उतारे।
कैसे गाऊँ नश्वर स्वर से बोलो गीत तुम्हारे?
योगेश्वर प्रभु रामलाल जी नाना रूप तुम्हारे।
ध्यान योग में दर्शन देते सहस भुजाएँ धारे॥
जहाँ योगियों की नौकाएँ पातीं दिव्य किनारे।
कैसे गाऊँ नश्वर स्वर से बोलो गीत तुम्हारे?
मेरी जीवन नैया के बस तुम हो एक खिवैया।
झंझाओं में मझधारों में तुम ही बने बचैया॥
जीवन का अस्तित्व तुम्हीं से तुम ही एक सहारे।
कैसे गाऊँ नश्वर स्वर से बोलो गीत तुम्हारे?
चरण कमल वन्दन ही अब तो केवल आश्रय मेरा।
जिससे जीवन का मिट जाए यह अघपुञ्ज घनेरा॥
आशा है उद्धार करोगे मुझको बिना विचारे।
कैसे गाऊँ नश्वर स्वर से बोलो गीत तुम्हारे?

आत्म-निवेदन—

आठवें वर्ष का शुभारम्भ

आनन्द-कन्द प्रभुजी की परम पावन जयन्ती पर, जो सदा की भांति इस वर्ष भी चैत्र-शुक्ला नवमी सं० २०३२ को, योग प्रशिक्षण केन्द्र की सिद्ध गुफा सवाई के प्रांगण में, परम श्रद्धेय श्री सद्गुरुदेव जी महाराज के संयोजन और सभापतित्व में मनाई जा रही है 'सिद्धयोग' अपने जीवन के आठवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। मुद्रण-सामग्री और कागज के मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि के फलस्वरूप 'सिद्धयोग' का वार्षिक मूल्य भी इस वर्ष १२ रुपये के स्थान पर १५ रुपये कर देने के लिए विवश होना पड़ा है। 'सिद्धयोग' के आकार-प्रकार में प्रकाशित होने वाले अन्य हिन्दी एवं अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं के मूल्य में हुई वृद्धि की अपेक्षा 'सिद्धयोग' के मूल्य में हुई यह वृद्धि फिर भी अल्प ही है। अगर यह कह दिया जाय कि 'सिद्धयोग' लागत मात्र पर ही अपने पाठकों को दिया जा रहा है तो अनुचित न होगा। गतवर्ष कागज के मूल्य-वृद्धि की समस्या ही केवल नहीं रही किन्तु अपेक्षित कागज का मिलना भी दुर्लभ रहा। बाजार में मनचाहा मूल्य देने पर भी विक्रेताओं से कागज प्राप्त होना सम्भव नहीं रहा। यह उन अशरण-शरण योग-योगेश्वर की ही कृपा रही कि कागज के अकाल में भी 'सिद्धयोग' येन-केन प्रकारेण प्रकाशित होकर अपने योग प्रचार के कार्य में संलग्न रहा। कागज के मूल्यों में आज भी कोई कमी तो नहीं आई है किन्तु स्थिरता अवश्य आई है जिसके कारण कागज का बाजार में मिल सकना सम्भव हो गया है। परिणामस्वरूप 'सिद्धयोग' के प्रकाशन में गतवर्ष यदा-कदा जो विलम्ब होता रहा वह आगे सम्भवतः न होगा।

हिन्दी भाषा में 'सिद्धयोग' एकमात्र ऐसा पत्र है जो योग सिद्धान्तों का प्रबल समर्थक और प्रचारक है। केवल योग के आसनों की व्याख्या या प्रचार मात्र ही इसका ध्येय नहीं है किन्तु इसका ध्येय है योग के निःश्रेयस और अभ्युदय की प्राप्ति कराने वाले सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा साधकों को देना।

'सिद्धयोग' अपने इस ध्येय पूर्ति की दिशा में यदि कुछ भी अग्रसर हो सका है तो इसका श्रेय प्रातः स्मरणीय श्री सद्गुरुदेव जी की कृपा और उन विद्वान लेखकों तथा सुकवियों के सहयोग को ही है जिनकी विचारपूर्ण कृतियां समय-समय पर इसमें प्रकाशित होती रही हैं। और यह विशेषांक भी तो श्री गुरुदेवजी की अनुकम्पा और विद्वान लेखकों एवं सुकवियों के कृपा पूर्ण

सहयोग का ही मूर्त रूप है। इसमें जो कुछ भी श्रेष्ठ और सुन्दर है वह सब इनका है और जो कुछ भी अश्रेष्ठ या त्रुटिपूर्ण है वह मेरा अपना ही समझिए, जिसके लिए मैं 'सिद्धयोग' के पाठक परिवार से सादर क्षमा प्रार्थी हूं।

'सिद्धयोग' के विद्वान लेखक आचार्य चन्द्रहास शर्मा के सहयोग के प्रति भी मैं विशेष रूप से आभारी हूं। दिल्ली स्थित अनेक मनीषी लेखकों से व्यक्तिगत सम्पर्क साध कर वे 'सिद्धयोग' के लिए विचार पूर्ण लेख भिजवाने का प्रयत्न प्रायः करते ही रहते हैं। इस विशेषांक में भी कई विद्वान लेखकों के विचारपूर्ण लेख उनके सम्पर्क और सौजन्य से ही सुलभ हो सके हैं।

'सिद्धयोग' के पाठक परिवार को, कृपालु ग्राहक और अनुग्राहकों को उनके सहयोग के लिए इस अवसर पर धन्यवाद अर्पित करना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। क्योंकि 'सिद्धयोग' का प्रचार-प्रसार बिना इनके सहयोग के बढ़ना सम्भव ही नहीं होता। अतः अब तक के सहयोग के लिए धन्यवाद अर्पित कर जहां मैं इनके प्रति आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं, वहां उनसे यह आग्रह करना भी आवश्यक समझता हूं, कि वे अपने-अपने क्षेत्र में दो-दो चार-चार नये ग्राहक बनाकर योग प्रचार के व्यापक कार्य में अपना सहयोग प्रदान करने की कृपा और करें। उनके इतने सहयोग मात्र से 'सिद्धयोग' आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बन की ओर बढ़ सकेगा।

लाडवा, चण्डीगढ़, झांसी, कड़वा, मध्यप्रदेश के शाखा-मण्डलों से प्रसार की दिशा में 'सिद्धयोग' को उल्लेखनीय सहयोग मिलता रहा है। पिछले कई वर्षों से बन्धुवर श्री दुर्गासिंह तोमर के सद्-प्रयासों का भी एक बहुत बड़ा भाग 'सिद्धयोग' की ग्राहक संख्या अभिवृद्धि में रहा है। यदि अन्य गुरु भाई-बहन भी इनके सद्-प्रयासों का अनुकरण कर सकें तो 'सिद्धयोग' के माध्यम से योग प्रचार के कार्य को व्यापक बनाने में, उनका बहुत बड़ा हिस्सा होगा।

कुछ उपयोगी लेख जो विलम्ब से प्राप्त होने के कारण विशेषांक में स्थान नहीं पा सके वे 'सिद्धयोग' के आगामी अङ्कों में छपते रहेंगे। स्थान और समय के अभाव से ही इन प्राप्त लेखों को इस अङ्क में छाप सकने से हम विवश रहे। प्रेषक लेखकों से हम इसके लिए भी क्षमा प्रार्थी हैं।

निवेदक

—दिव्य

संयुक्त सम्पादक

जीवन-निर्माण को नई दिशा देने वाले

हमारे उपयोगी प्रकाशन

पुस्तक	मूल्य
१. योगासन चित्रपट (अप्राप्य)	१)५०
२. श्री योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज की स्वहस्तलिखित जीवन कथायें व सदुपदेश	५)००
३. योगासन (सचित्र)	४)००
४. श्री ब्रह्मचारी योगानन्दजी	२)००
५. योगिराज श्री मुलाराम जी	२) ०
६. आठ योगी	२)००
७. समाधिस्था-योगिनियाँ	२)००
८. सवाई के चमत्कारिक-चरित्र	२)००
९. मन की एकाग्रता के साधन	१)००
१०. भोग-रोग और योग	१)५०
११. जीवन-तत्त्व साधन	१)-०
१२. यम-नियम	१)-०
१३. योग-क्या ?	)५०
१४. योगेश्वर-चरित्र माला (भजन)	१)००
१५. श्री महाप्रभु जी का गीत-काव्य (कविता)	१)००
१६. श्री सद्गुरु-संकीर्तन भजन-माला	१)००
१७. सुधा-संगीत	१)००
१८. इन्दु शर्मा के आठ भजन	)५०
१९. श्री सद्गुरु-दर्शन (गीत-काव्य)	)६०
२०. योगामृत-वचनावली	)५०
२१. जीवन-तत्त्व साधन-व्याख्याकार श्री गिरीशदेव शर्मा	
२२. Practices for Developing The Life-force (Jiwan Tattwa Sadhan)	२)००
२३. सुमनाञ्जलि (श्री गुरुदेवजी के जन्म-दिवस सम्बन्धी रचनायें)	)५०

नोट—उपर्युक्त पुस्तकें मँगाने पर उक्त मूल्य के अतिरिक्त डाक व्यय मँगाने वाले के जिम्मे और होगा।

व्यवस्थापक

श्री सिद्ध गुफा-योग प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई (आगरा)

Sidhayoga

Regd No. L. An. 0090

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

उद्गीथो रसः

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः।
अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो
वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः।

इन [चराचर] प्राणियों का पृथिवी रस (उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्थान) है। पृथिवी का रस जल है, जल का रस ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस पुरुष है, पुरुष का रस वाक् है, वाक् का रस ऋक् है, ऋक् का रस साम है। और साम का रस उद्गीथ (ओंकार) है।

यानी चराचर भूतों का पृथिवी आश्रय है। पृथिवी का रस (जल) है, क्योंकि पृथिवी जल में ही ओतप्रोत है; जल का रस ओषधियाँ हैं, क्योंकि ओषधियाँ जल का ही परिणाम हैं। उन ओषधियों का रस पुरुष है, क्योंकि पुरुष (नरदेह) अन्न का ही परिणाम है। उस पुरुष का भी रस वाक् है। उस वाणी का भी उत्कृष्टतम सारभूत ऋक् ही रस है, ऋक् का रस साम है तथा उस साम का भी रस उद्गीथ (ओंकार) है।

मुद्रक — देवीप्रसाद शर्मा, 'सिद्ध' कार्यालय प्रिंटिंग प्रेस